बुन्देलखण्ड के लोकवाद्यों एवं अवनद्ध वाद्यों की बजौटी का सांगीतिक एवं लयात्मक अनुशीलन

बुन्देलखण्ड-विश्वविद्यालय, झांसी

पी एच.डी. (संगीत) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

2007

डॉ. वीणा श्रीवास्तव
रीडर एवं अध्यक्ष, संगीत
निर्देशिका

एकता डेंगरे
एम.ए. संगीत
अनुसंधित्सु

दयानन्द वैदिक महाविद्यालय, उरई

Vedio CD

Audio CD

डा० वीणा श्रीवास्तव
रीडर संगीत (गायन) विभाग
दयानन्द वैदिक महाविद्यालय
उरई -285001 (जालौन)
संगीत निर्देशिका वातायन उरई
(रंगमंचीय एवम् सांस्कृतिक संस्था)
मानद सदस्य, नीति निर्धारण प्रकोष्ठ
संस्कृति विभाग उ0प्र0 शासन, लखनऊ

''स्वराश्रय''
633, नया रामनगर,
उरई-285001 (उ0प्र0)
Ph. (05162) 52737
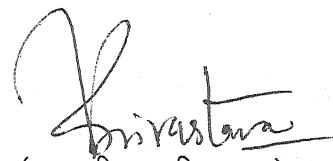
पत्रांक :

दिनांक 15/11/06

निदेशक का प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि एकता डेंगरे एम0 ए0 (संगीत वादन) ने मेरे निर्देशन में ''बुन्देलखण्ड के लोकवाद्यों एवं अवनद्ध वाद्यों की बजौटी का सांगीतिक एवं लयात्मक अनुशीलन'' विषय पर शोध-कार्य सम्पन्न किया है । बुन्देलखण्ड के लोकगीतों एवं लोकनृत्य गीतों का संकलन, रिकार्डिंग, कैसेट्स एवं सी0 डी0 द्वारा उनका अनुशीलन तथा बजौटी से सम्बन्धित पहलुओं लिपि, शैलियों एवं विभिन्न सांगीतिक एवं लयात्मक शोध सम्यक सामग्री इनका अनुसंधानात्मक मौलिक कार्य है। अवनद्ध वाद्यों की बजौटी के सांगीतिक एवं लयात्मक अनुशीलन के साथ-साथ शास्त्रीय अवनद्ध वाद्यों से इनकी तुलना इनके शोध की विशेष उपलब्धि है। जो इनके श्रम एवं निष्ठापूर्वक किए गए कार्य का सूचक है।

नियमानुसार इन्होंने 200 दिन की उपस्थिति पूरी कर अध्यवसाय एवं अध्येतावृति का परिचय दिया है। इस प्रबन्ध का कोई भी अंश या सम्पूर्ण प्रबन्ध किसी अन्य विश्वविद्यालय की शोध उपाधि के लिए विचारार्थ प्रस्तुत नहीं किया गया है। मैं इस शोध प्रबन्ध को परीक्षकों के मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत करती हूँ।

Srivastava

(डा0 वीणा श्रीवास्तव)
रीडर एवं विभागाध्यक्ष, संगीत
दयानन्द वैदिक महाविद्यालय
उरई (जालौन)

'प्राक्कथन'

'नादेन जायते' – नाद से ही सृष्टि का जन्म हुआ है। सृष्टि का कारण है 'स्वर–लय'। भारतीय संगीत, आध्यात्म की गोद से पैदा हुआ है, स्पर्श व आघात का जितना महत्व जीवन में है, उतना ही संगीत में है। इसको हम अलग से नहीं मान सकते हैं। संगीत की अभिव्यक्ति प्रकृति कें समान निसर्ग है तभी रस निष्पति सम्भव होती है।

भारतीय संगीत का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, अति प्राचीन –काल में संगीत को मोक्ष का साधन माना जाता था। 'संगीत' शब्द 'गीत' शब्द में 'सम' उपसर्ग लगाकर बना है। 'सम' यानि सहित और 'गीत' यानि 'गान'। 'गान के सहित' अंगभूत क्रियाओं (नृत्य) व वादन के साथ किया हुआ कार्य संगीत कहलाता है।

''गीत वाद्यं तथा नृत्यं, त्रयं संगीत मुच्यते''।

भारतीय संगीत के दो आधार स्तम्भ है। स्वर और लय। इन्हीं दोनों के आधार पर कलाकार संगीत की सृष्टि करता है। जिस प्रकार रागों में स्वर का उसी प्रकार वाद्यों में लय का विशेष महत्व है। स्वर के अतिरिक्त लय, ताल भी संगीत के अविभाज्य अंग है। शास्त्रीय संगीत स्वर व ताल प्रधान है, तो लोकसंगीत लय व धुन प्रधान है। लोकसंगीत में शास्त्रीयता का कोई बंधन नहीं होता है। लोकवाद्यों का प्रयोग न केवल संगीत के साथ संगत करने में बल्कि स्वतंत्र वादन में भी किया जाता है। लोक रंजन हेतु संगीत की स्वर लहरी की गूंज तथा उसके साथ संगत हेतु जो वाद्य–यंत्र प्रयुक्त होते हैं, वे बहुत ही सादे, आडम्बर रहित साधारण उपयोग की वस्तुओं से निर्मित होते हैं।

बुन्देलखण्ड का लोकजीवन सादगी का पर्याय है बुन्देलखण्ड की संस्कृति यहॉ के लोकजीवन में लोकगीतों लोकवाद्यों तथा लोकनृत्यों के माध्यम से सहजता से देखी जा सकती है, यहॉ के लोकगीतों में लोकमानस की एक–एक रूपरेखा, सुख–दुख, हास–परिहास, विजय–पराजय,मिलना–बिछुड़ना जैसे भाव आसानी से दिखाई देते है।

बुन्देलखण्डी लोकवाद्यों का अध्ययन किन व किस बुन्देली गीत, बुन्देली विधा या बुन्देली परम्परा के साथ कौन सा लोकवाद्य बजाया जाता है, इन वाद्यों का प्रयोग बुन्देली विध ााओं के साथ संगीतिक व लयात्मक दृष्टि से कैसे किया जाता है, आदि का उल्लेख किया गया है।

हमारे दैनिक कार्यो में प्रयुक्त होने वाली सामग्री भी हमारे क्रिया वाद्य हो सकते हैं जैसे– लोटा, मटका, कटोरा, चूड़ियां, सूप, चिमटा, थाली, चलनी, चकिया, ओखली–मूसल आदि। बुन्देलखण्डी लोकवाद्यों, लोकगीतों व लोकनृत्यों की संस्कृति का उल्लेख लोकसंगीत में देखने को मिलता है तथा किस लोकविधा के साथ कौन सा वाद्य बजाया जाता है इसका कतिपय उल्लेख है, परन्तु इन वाद्यों की पारम्परिक बजौटी के बारे में कहीं कोई उल्लेख नहीं है। अतः प्रस्तुत शोध ग्रंथ में बुन्देलखण्डी लोकगीतों व लोकनृत्यों के साथ लोकवाद्यों की बजौटी (वादन शैली) अर्थात बजाने का तरीका,उनके अपने बोल क्या हैं, इनकी शास्त्रीय वाद्यों के बोलो से तुलना आदि का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

अभिव्यक्ति की जितनी भी गति हैं, ताल पर आधारित हैं,। ताल को प्रस्तुत करने का सबसे सशक्त माध्यम है 'लय' तथा 'लय' को प्रस्तुत करने का सशक्त माध्यम है 'आघात'। ताल व लय के अतिरिक्त संगीत की एक बहुत बड़ी विशेषता है– 'कल्पना तत्व' –इसका बहुत विस्तृत आकाश है, स्वतंत्रता है। सारें प्रतिबन्धों के बाबजूद भी यह स्वतंत्र है। इसी कल्पना तत्व में हमारा लोक विचरण करता है। अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए संगीत का सहारा लेता है। गीतों को रचना है। गीतों के साथ स्वनिर्मित वाद्ययंत्रों का प्रयोग करता है और उन वाद्य यंत्रों को आवश्यकतानुसार, रूचि अनुसार बजाता है। गीतों के साथ संगत करता है। स्वंतत्र रूप से बजाता है। उनके बजाने की विधा एक दूसरी पीढ़ियों में परम्परागत हस्तान्तरित होती जाती है। ये लोककलाकार वाद्यों पर क्या बजा रहे हैं, क्या बोल है, क्या चलन है, क्या वजन है, लय का क्या आघात है, क्या गति है, क्या काल है, क्या यति है अर्थात वाद्यों की बजौटी का सांगीतिक अनुशीलन ही शोध कार्य का मुख्य उद्देश्य है।

इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए मैंने बुन्देलखण्ड के लोकवाद्यों एवं अवनद्ध वाद्यों की बजौटी का सांगीतिक एवं लयात्मक अनुशीलन विषय पर शोधकार्य करने का बीड़ा उठाया।

प्रस्तुत शोध ग्रंथ का प्रथम अध्याय चूंकि बुन्देलखण्ड से संबंधित है अतः बुन्देलखण्ड का सामान्य परिचय आवश्यक है। बुन्देलखण्ड को हम भारतवर्ष का हृदय स्थल कहते है। इसकी रत्ना गर्भा वसुन्धरा ने जाने कितने रत्न दिये हैं। बुन्देलखण्ड अपनी वीरता पराक्रम, शौर्य, कला, संगीत, तपस्या, एवं साधनों के कारण विश्व विख्यात है।

बुन्देलखण्ड का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। इसके विषय में ये दोहा प्रसिद्ध है–

''इत चम्बल उत नर्मदा, इत जमुना उत टौंस
छत्रसाल सो लरन की रही न काहू हौंस।''

बुन्देलखण्ड की सीमा को निर्धारित करती उपर्युक्त पंक्तियां यशस्वी लेखक श्री वियोगी हरि की हैं। बुन्देलखण्ड का इतिहास, भौगोलिक सीमाएं यहाँ की ऐतिहासिक घटनाएं परम्पराएं, सांस्कृतिक चेतनाओं, रीति–रिवाजों तथा यहाँ की वैभवशाली गाथाओं का परिचय इसी अध्याय में दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में बुन्देलखण्ड के सांस्कृतिक स्वरूप का मूल्याकंन किया गया है। यहॉ के सांस्कृतिक परिवेश को समझने के लिए यहॉ के साहित्य को, संगीत को, संस्कृति को समझना होगा। बुन्देलखण्ड में लोकगीतों का अक्षय भण्डार है। संस्कृति के आधार भूत तत्व यहाँ की कलाओं में, रीति रिवाज में, रहन–सहन में, खान–पान में, तीज–त्योहार, व्रत–पूजन शिल्प कला, स्थापत्य कला तथा ललित कलाओं में देखने को मिलते है।

बुन्देलखण्ड की सभ्यता और संस्कृति के प्रमुख केन्द्र यहॉ के पर्व, मेले और तीज–त्योहार हैं जो मानव जीवन को सुख, आनन्द एवं रससिक्त करते हैं। इनका आयेजन सामूहिक रूप से होता है। इनके द्वारा सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात होता है। यहॉ के लोक संगीत में यहाँ का सांस्कृतिक वैभव प्रखर हुआ दिखाई देता है। साहित्य, संगीत तथा कला के

क्षेत्र में प्रतिभावान कलाकारों को उत्पन्न कर यहाँ की धरती गौरवान्वित है।

तृतीय अध्याय–भारतीय सांगीतिक वाद्यों के विवरण से संबंधित है। कहते है कि वाद्यों की उत्पत्ति के हेतु देवाधिदेव शंकर हैं, दक्ष के यज्ञ का विध्वंश करने के पश्चात–उद्वेग को शान्त करने के लिए भगवान शंकर ने नन्दी, नारद, तुम्बरू इत्यादि को वाद्यों के निर्माण के लिए प्रेरणा दी, फलस्वरूप वाद्यों का जन्म हुआ।

प्राचीन काल से ही मानव की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए गीत, वाद्य एवं नृत्य को माध्यम बनाया गया है। महर्षि भरत ने वाद्यों का चतुर्विध वर्गीकरण किया है जिसे परवर्ती आचार्यो ने स्वीकार भी किया है। तन्तु वाद्य, अवनद्ध वाद्य, घन वाद्य और सुषिर वाद्य।

बुन्द्वेलखण्डी लोकवाद्यों का विवरण एवं वर्गीकरण चतुर्थ अध्याय का विषय है। बुन्देलखण्ड अपने लोकगीतों, लोकवाद्यों तथा लोकनृत्यों के लिए प्रसिद्ध है। यहॉ के लोकगीतों व लोकनृत्यों के साथ संगत देने तथा स्वतंत्र रूप से वादन के लिए लोकवाद्यों का प्रयोग किया जाता हैं इसके साथ ही हमारे क्रिया अंग भी–वाद्यों का कार्य करते हैं जैसे–सूप, चक्की, चिमटा, चलनी, खल–मूसर आदि। लोकगायक गीतों को तन्मयता के साथ गाने, गायन के बीच में सांस भरने (भराव) तथा श्रोताओं को आनन्द प्रदान करने के लिए लोकवाद्यों का उपयोग करते हैं। बिना लय के आनन्द नहीं उत्पन्न होता। इसी से लोक संगीत राग व ताल प्रधान न होकर लय व धुन प्रधान होता है। बुन्देलखण्डी लोकवाद्यों को भी हमने उपर्युक्त चार वर्गो में बांटा है। इसके अतिरिक्त क्रिया अंग भी हमारे लोक में वाद्यों के रूप में अपना एक अलग स्थान रखते हैं।

पंचम अध्याय –बुन्देलखण्ड के लोकगीतों एवं लोकनृत्य गीतों के साथ बजाए जाने वाले अवनद्ध वाद्यों की वादन शैली अर्थात बजौटी से संबंधित है। बुन्देलखण्ड के लोकगीतों के भिन्न–2 प्रकारों में अलग–2 तरह की संगत की जाती है। गीत प्रकारों के साथ संगत करने में लघुतालों का या निश्चित छोटी–2 मात्राओं के बोल समूहों का वादन होता है। तालों के शास्त्रीय नियमों का पालन आवश्यक नहीं होता, बल्कि गीत के वजन के अनुसार वाद्य की बजौटी होती है।

यद्यपि लोक संगीत के कई गीत प्रकारों के साथ समान मात्राओं का तथा समान खण्डों का निर्वाह है, तथापि गीत की बनावट, बुनावट एवं वजन में अन्तर होने से वाद्यों की बजौटी में भी अन्तर आ जाता है। भिन्न–2 लोक नृत्यों में भिन्न–2 लोकवाद्यों जैसे–राई नृत्य के साथ मृदंग, सैरा नृत्य के साथ ढोलक मंजीरा, चंगेर नृत्य के साथ ढपला व तुरही बजाया जाता है।

बुन्देलखण्ड के कुछ प्रतिनिधि लोकगीतों एवं लोकन्तत्यों की ऑडियों एवं वीडियो सी0डी0 भी बनाकर प्रस्तुत की गई है। जिससे 'बजौटी' का मूल्यांकन सुलभ हो सकेगा।

छठवें अध्याय में अवनद्ध लोकवाद्यों की बजौटी की शास्त्रीय ताल वाद्यों की बजौटी से तुलना की गई है। यद्यपि शास्त्रीय संगीत मुख्यरूप से शास्त्र के नियमों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जाता है। जबकि लोकसंगीत को कोई भी व्यक्ति उन्मुक्त रूप से गुनगुना सकता है अर्थात लोकसंगीत मानवीय उल्लास की चटक चांदनी है। शास्त्रीय संगीत घरानों में बिखर कर शोभा बढ़ा रहा है तो लोकसंगीत आज भी सामूहिक रूप से चौपालों, खेत खलिहानों में गूँज रहा है। एक शास्त्र प्रधान है तो दूसरा समाज प्रधान। दोनों की बजौटी में काफी अन्तर है जो स्वाभाविक भी है। लोक की बजौटी प्रकृति के निकट है क्योंकि लोक का प्राणी निसर्ग–निर्गित प्रकृति के समान ही सहज, सरल है और दूसरी ओर शास्त्रीय संगीत नियमों में बंधा होकर अपनी छटा बिखेर रहा है।

लोक और शास्त्र के समन्वय को व्यक्त करता हुआ यह शोध–कार्य लोक वाद्यों की परम्परा में लोकवाद्य, उसकी बनावट, संगत, वादन शैली (बजौटी) तुलना कर अपने लक्ष्य और उद्देश्य को प्रस्तुत करता हुआ आपके समक्ष है।

शोध –ग्रंथ से संबंधित समस्त पत्र–पत्रिकाओं एवं प्रस्तुत आदि का विवरण संदर्भ ग्रंथ सूची में दिया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में जिन गुरूजनों ने, विद्वानों ने , इष्ट मित्रों व कलाकारों सहयोगियों ने कृपा की है, उनके प्रति मै हृदय से कृतज्ञ हूँ।

लिए मैं अपने देवर श्री अनुपम मोदी एवं श्री अनुराग मोदी की भी आभारी हूँ।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्था 'वातायन–उरई की भी आभारी हूँ। जिनके सहयोग से लोकनृत्यों की वीडियो सी० डी० प्राप्त हो सकी।

ग्राम कनेरा, मेनपानी, जिला सागर (म०प्र०) के उन लोक कलाकारों श्री रामलाल, कंछेदी लाल कुशवाहा, टीकाराम, बाबूलाल कुशवाहा, राजू पटेल, प्रकाश यादव व साथी तथा श्रीमती द्रोपदी यादव की भी हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में मैं अपने सभी मित्रों, सहयोगियों एवं शुभचिन्तकों के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

Ekta Dengre

एकता डेंगरे

अनुसंधित्सु

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

'बुन्देलखण्ड का सामान्य–परिचय'

आसमान छूती हिम की चोटियॉ जो स्वयं मुकुट बन सुशोभित हो रही हैं। सप्त सिंधु आदि जिसकी आजानु भुजाएं हैं, पूर्वी घाट एंव पश्चिमी घाट जिसकी सम्पुष्ट जंघाएं हैं, सागर जिसके चरणों में नतमस्तक हो लहर–लहर आह्लादित होता हो, विन्ध्यवटी की उपत्यकाएं जिसके कटि में लिपटी सुशोभित हो रही हैं, ऐसे श्रेष्ठ भारत, विशाल भारत का हृदयस्थल बुन्देलखण्ड अपनी चतुर्दिक उपलब्धियों एवं विशेषताओं के लिए विश्व प्रसिद्ध है। बुन्देलखण्ड को प्रकृति ने स्वयं संवारा है। ऋषि मुनियों एवं तपस्वियों ने इसे अपने ब्रह्य ज्ञान से ब्रह्यज्ञानी एवं तप से पवित्र बनाया है। साहित्यकारों, कलाकारों,, कवियों, राजा–महाराजा, वीरांगनाओं ने इसे शस्त्र, शास्त्र, शौर्य एवं साहित्य कला से कलात्मक बना इसकी आन–बान–शान में न्यौछावर हो अपने को गौरवान्वित किया है। ऐसा लगता है यहाँ की प्रकृति ही नहीं बल्कि यहॉ का इतिहास एवं भूगोल स्वयं अपनी प्रभुता एवं सम्पन्नता देख आश्चर्य चकित है।

बुन्देलखण्ड में भारतीय संस्कृति के पद–चिन्ह पग–पग पर दिखाई देते इसकी प्राचीनता को स्वयं सिद्ध करते हैं। पं0 वासुदेव शरण अग्रवाल जो भारतीय संस्कृति के प्रकाण्ड विद्वान हैं। उन्होंने बुन्देलखण्ड की प्राचीनता के विषय में कहा है – " विन्ध्य पर्वत भारतीय वन प्रकृति का वयोवृद्ध पितामह है। कहते हैं कि जब हिमालय बाल रूप में सलिलावरण से बाहर आया था, उससे युग–युग पहले जरठ विन्ध्याचल जन्म ले चुका था। भारत भूमि के ऊर्ध्वकाय के मध्य में विन्ध्यावटि की रम्य मेखला विधाता ने स्वयं सजाई है।"[1] अतः ये क्षेत्र जो वर्तमान में बुन्देलखण्ड के नाम से जाना जाता है, विन्ध्याचल पर्वत की तराई में अवस्थित है। इस कारण

(1) बुन्देलखण्ड दर्शन', डॉ0 मोती लाल त्रिपाठी अशान्त पृ0– 12

इस क्षेत्र का नाम विन्ध्यइलाखण्ड पड़ा जो बाद में बुन्देलखण्ड हो गया। ''बुन्देलखण्ड का वास्तविक नाम विन्ध्यइलाखण्ड है। इसका यह नाम विन्ध्याचल की तराई में बसने के कारण पड़ा है। संस्कृत में 'इला' का अर्थ पृथ्वी है''[1] पुराणों से ज्ञात होता है यह पहले विन्ध्याइलाखण्ड बाद में बुन्देलखण्ड कहलाया। विश्व की सबसे प्राचीनतम यदि कोई भूमि है तो वह बुन्देलखण्ड भूमि है। ऐसा वैज्ञानिक शोध से सिद्ध हो चुका है। बुन्देलखण्ड की मिट्टी क्रोम्बियन युग की है। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए अब किसी साक्ष्य की आवश्यकता नहीं रह गई है। करोड़ों वर्ष पूर्व सर्वप्रथम बुन्देलखण्ड का भू–भाग ही जलावरण से ऊपर आया, जरठ विन्ध्यराज इसका मूक साक्ष्य है। सूर्य से अलग होने के पश्चात पृथ्वी ने जब स्वयं अपनी सत्ता संभाली थी, तब वह बुन्देलखण्ड की धरती ही थी। अतः सृष्टि का विकास भी यहीं से प्रारम्भ हुआ होगा तथा मानव की उत्पत्ति का श्रेय इसी भूमि को होगा। इसके साक्ष्य विन्ध्यपर्वत श्रेणियां तथा नर्मदा नदी है।

पर्वत और नदियों से घिरे इस क्षेत्र को प्रकृति ने स्वयं सुरक्षा प्रदान की है प्रकृति ने स्वयं इसके रंग रूप को सजाया संवारा है। मानव जीवन को हृष्ट–पुष्ट तथा आत्मरक्षार्थ तैयार करने के लिए नाना प्रकार की जीवन दायिनी जड़ी–बूटियां, फल–फूल व धन–धान्य से परिपूरित किया है। ताकि मनुष्य स्वस्थ रहकर समाज का विकास एवं उत्थान कर सके। देवता भी ऐसी शस्यश्यामला धरती पर अवतरण के लिए लालायित रहते होंगे।

भगवान राम, कृष्ण की कर्मस्थली, कृष्ण द्वैपायन, गुरू द्रोणाचार्य, महान भगवद भक्त प्रहलाद की जन्म स्थली तथा अनेकानेक ऋषि मुनियों की तपस्थली व असुरो की मोक्ष स्थली यही बुन्देलखण्ड की भूमि है।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण में इस भू–भाग का नाम बज्र देश एवं युद्ध देश कहा गया

---

(1) बुन्देलखण्ड दर्शन', डॉ0 मोती लाल त्रिपाठी अशान्त पृ0– 12

है। युद्ध देश नाम के पृष्ठ में देवासुर संग्राम की कथा का तथ्य छुपा है। तथा बज्र देश से तात्पर्य महर्षि दधीचि ने मानवता की रक्षार्थ अपनी अस्थियां दान में दी थीं, जिनसे इन्द्र ने असुरों का संहार किया था।

भविष्य पुराण में बुन्देलखण्ड का नाम 'पद्मावती' मिलता है। अन्य पुराण में इसका नाम कर्ण या कर्णवती मिलता है। मत्स्य पुराण में नर्मदा नदी की महिमा का गुणगान किया गया है। नर्मदा महानद की महिमा गंगा और यमुना से कहीं अधिक है। कहते हैं यमुना का जल सप्ताह में, सरस्वती का जल तीन दिन में, गंगा जल उसी क्षण पुण्य प्रदान करता है परन्तु नर्मदा का जल दर्शन मात्र से ही पवित्र कर देता है।

अग्नि पुराण के गर्ग–संहिता में एक कथा का वर्णन मिलता है– हिरण्यकश्यप के वध के पश्चात् भगवान नृसिंह के नेत्रों से प्रहलाद के भगवद् प्रेम के कारण हर्षातिरेक से अश्रु गिरने लगे जिससे उस स्थान पर एक सरोवर बन गया। प्रहलाद ने नृसिंह भगवान से मातृ–पितृ ऋण से उऋण होने का उपाय पूछा जिस पर भगवान ने प्रहलाद को बताया कि इस अश्रु धारा से बने महानद में स्नान करने से मातृ–पितृ ही नहीं, वरन् दसों ऋण से उऋण हुआ जा सकता है। इस प्रकार प्रहलाद इस महानद में स्नान करने से दस ऋण–माता, पिता, पत्नी, पुत्र, गुरू, देवता, ब्राहमण, शरणागत, ऋषि और पितरों दसार्ण से उऋण हो गए। इसलिए बुन्देलखण्ड का एक नाम दसार्ण भी रहा है। बुन्देलखण्ड के नाम के विषय में कई मत हैं। कहते है कि इसका प्राचीन नाम जुझौति है जो संस्कृत शब्द जेजा मुक्ति का अपभ्रंश है। आधुनिक विद्वानों को बुन्देलखण्ड का नाम 500 – 600 वर्षो से अधिक पुराना नहीं प्रतीत होता है। ''डा0 आर0 पी0 अग्रवाल 'बुन्देलखण्ड का शास्त्रीय अध्ययन' में इसकी व्युत्पत्ति 'बूँद' (बिन्दु) लः बुन्देलखण्ड । बुन्देलखण्ड बताई जाती है। डा0 बागीश शास्त्री 'बुन्देलखण्ड की प्राचीनता में इस प्रदेश को

पुलिन्द जाति का प्रदेश मानते हैं। अतः पुलिन्द अपभ्रंश बोलिन्द और बुन्देल मानते हैं।[1]

बुन्देलखण्ड शब्द का स्पष्ट अर्थ है, कि जिस क्षेत्र में बुन्देले ठाकुरों का राज्य रहा है उस क्षेत्र को बुन्देलखण्ड के नाम से पुकारा जाता है। बुन्देलखण्ड राज्य की स्थापना ईसा की चौदहवीं शताब्दी से मानी जाती है। उसी समय से इस भू–भाग को बुन्देलखण्ड के नाम से पुकारा जाता है। बुन्देलखण्ड राज्य की स्थापना सर्वप्रथम पंचम सिंह ने की थी। यह राज्य पहले गढ़कुंडार में स्थापित हुआ। बाद में इसकी राजधानी ओरछा बनायी गई। उस समय से ओरछा राज्य को ही बुन्देलखण्ड का प्रमुख केन्द्र माना जाता रहा। बुन्देलों ने अपना राज्य इस क्षेत्र में लगभग 1128 ई0 में स्थापित किया। इसके संस्थापक हेमकरण थे, जिन्हें पंचम सिंह के नाम से जाना जाता है। इस राज्य का विस्तार बाद में अकबर के काल में वीर सिंह बुन्देला ने किया। तत्पश्चात औरंगजेब के काल में बुन्देलखण्ड केसरी 'छत्रसाल' ने इस राज्य का विस्तार किया। ज़हाँ तक छत्रसाल का राज्य रहा उस राज्य को बुन्देलखण्ड के नाम से पुकारा जाने लगा। उस समय इस क्षेत्र में बुन्देलों का शासन नही था, इस क्षेत्र में बुन्देलों से पहले यहाँ पर आदिवासी गोंड लोग रहा करते थे। इसलिए इस क्षेत्र को गोंडवाना भी कहते हैं। "बुन्देलखण्ड के इतिहास के सर्वप्रथम लेखक मुंशी श्यामलाल ने 1876 ई0 में लिखा कि 650 पूर्व यह क्षेत्र गोंडवाना कहलाता था।"[2]

इससे पहले यहाँ पर चंदेल वंशीय राजाओं का राज्य था। इस वंश का सबसे प्रतापी राजा जेज्जाक या जयशक्ति था। यह नाम चंदेलों के तथा उस समय के अन्य शिलालेखों में लिखा है।

---

(1) बुन्देलखण्ड का इतिहास – मोतीलाल त्रिपाठी अशान्त, पृ0 –1

(2) बुन्देलखण्ड का ऐतिहासिक मूल्यांक–राधाकृष्ण बुन्देली, सत्यभामा बुन्देली– पृ0 2

जब यहाँ चंदेल वंशों का शासन नहीं था उस समय इस क्षेत्र को और इसके पश्चिमी दक्षिण भाग को जुझौतिया अथवा जेजाहुति कहा जाता था। क्योंकि ब्राह्मण, बनिये और अहीर, यहाँ के निवासी थे।" मिस्टर स्मिथ के अनुसार यमुना और नर्मदा के बीच के देश को जेज्जाकभुक्ति अथवा वर्तमान बुन्देलखण्ड कहते हैं"[1]

कथाओं पुराणों, प्राचीन तथा विद्यमान चिन्हों आदि से यह ज्ञात होता है कि महाभारत काल में यह देश चेदि देश के नाम से पुकारा जाता था। यह चन्देल भी इसी चेदि या चन्देरी या चन्देली वंश के ही थे।

आर्य सभ्यता एवं आर्य संस्कृति के अभिनवों की लीलाभूमि यही बुन्देलखण्ड रहा है। वैदिक कालीन यजुवदीय कर्मकाण्ड का यहीं पर प्रथम अभ्युदय हुआ था। इसी कारण यह प्रदेश यजुहोति कहा गया था। जिसके अपभृंश होर्जीज–मुक्ति बना था। आर्य संस्कृति में जीजाकमुक्ति जोजमुक्ति तथा जुझौति आदि नामों से यह प्रदेश प्रतिष्ठित रहा है।

बुन्देलखण्ड के यमुना किनारे वाले क्षेत्र को वत्स या वंश देश के नाम से पुकारते हैं।

वास्तव में बुन्देलखण्ड विन्ध्याचल की तराई में स्थित है। अतः इसका वास्तविक नाम विन्ध्यइलाखण्ड है। संस्कृत में इला का नाम पृथ्वी है। वैसे तो प्राचीन काल में इस देश का नाम दशार्ण था। कात्यायन कौटिल्य कालिदास आदि महापंडितों ने अपनी –अपनी महाकृति में 'दशार्ण' नाम उल्लेख किया है। 'दशार्ण' शब्द का अर्थ है 'दशजल' वाला या दश दुर्ग भूमि वाला 'ऋण शब्द दुर्ग भूमौ जले च इति यादवः।

पुराण में दशार्ण प्रदेश का वर्णन किया गया है। बुन्देलखण्ड की प्रसिद्ध तथा

---

(1) बुन्देलखण्ड का ऐतिहासिक मूल्यांकन– सत्यभामा बुन्देली –पृ0 –2

महत्वपूर्ण नदी दशार्ण (धसान) इसी के द्वारा अभिसिचिंत क्षेत्र को 'दशार्ण' कहा जाता है।

बुन्देलखण्ड की राजकीय सीमा निर्धारित नही की गई है।

बुन्देलखण्ड की प्राचीन सीमायें उत्तर में यमुना, दक्षिण में नर्मदा, पूर्व में टोंस और पश्चिम में चम्बल तक मानी जाती है। अतः वह प्रदेश जो इन चारों नदियों के बीच–बीच में आया है, बुन्देलखण्ड माना जाता है। इस प्रदेश में बुन्देलखण्ड में उत्तर प्रदेश, के पाँच जिले – झांसी, जालौन, बांदा, हमीरपुर, ललितपुर और अब महोबा व चित्रकूट भी तथा मध्यप्रदेश के 22 जिले दतिया, मुरैना, ग्वालियर, भिण्ड, शिवपुरी, टीकमगढ़, सागर दमोह, गुना, सतना, पन्ना, छतरपुर, जबलपुर, विदिशा, रायसेन, नरसिंहपुर, माण्डला, होशंगाबाद, बेतल, छिन्दवाडा, सियोनी बरूआघाट, आदि सम्मिलित हैं।

इतिहास साक्षी है कि राजनैतिक– पारिस्थितिक परिवर्तनों ने इस क्षेत्र की सीमाओं को अनेक बार प्रभावित किया है जिससे इस प्रदेश की सीमा घटती–बढ़ती और परिवर्तित होती रही है।

'बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक, भौगोलिक स्थिति'

प्राकृतिक और भौगोलिक दृष्टिकोण से बुन्देलखण्ड सब प्रकार के विपरीत तत्वों का एक बड़ा सजीव प्रदेश है। प्राकृतिक दृष्टिकोण से इस प्रदेश को विन्ध्याचल की पर्वत श्रेणियों और पुण्य सरिताओं का वरदान प्राप्त है। समुद्रतल से इसकी ऊँचाई 400 फुट से 3000 फुट तक है। इसका क्षेत्रफल लगभग अस्सी हजार वर्गमील है। इसकी लम्बाई उत्तर से दक्षिण तक 366 मील और चौड़ाई पूव से पश्चिम 280 है।

बुन्देलखण्ड भारतवर्ष का हृदय भू–भाग है। यह उत्तर में आगरा तथा इटावा से

लेकर दक्षिण में बालाघाट, छिंदवाड़ा से और पूरब में छोटा नागपुर, उड़ीसा से लेकर पश्चिम में निमाड़ तथा राजस्थान से परिवृत है। चारों तरफ से नदियों से घिरा हुआ यह आर्यावर्त का वह दक्षिणी भू–भाग है, जो उत्तर की ओर क्रमशः ऊँचा होता गया है तथा जिसके सिरोभाग पर विन्ध्य पर्वत–चोटियाँ मुकुट की तरह सुशोभित होती हैं। क्रोम्ब्रियन युग की निर्मित इसकी मिट्टी, इसकी प्राचीनता की स्वयं उद्घोषिका है।

जेजाक्मुक्ति का सीमा विस्तार श्री केशवचन्द्र मिश्र ने निम्न प्रकार बताया है – "उत्तर की ओर गंगा और यमुना के महानद इसकी सीमा बनाते थे दक्षिण में नर्मदा नदी, जिसमें मालवा भी सम्मिलित था और पश्चिम में इसकी सीमा सामान्यरूप से चम्बल नदी थी, जो विंध्य मेखल तक पहुँचती है। जेजाक्मुक्ति की पूर्वी सीमा इतनी स्पष्ट नही रखी जा सकती। उत्तरपूर्व में सोन नदी सीमरस्थ थी, किन्तु इसका दक्षिणी भाग चंदेल साम्राज्य में घुस गया था। इधर जेजाभुक्ति की सीमा प्रतिहारों की पूर्वी सीमा भी पार कर गई थी। जेजाक्मुक्ति की स्थिति इस प्रकार मानचित्र पर 22 " और 27" उत्तरीय अक्षांश तक तथा 75" और 84" पूर्वीय भू–रेखाओं के मध्य में है।"[1]

"जनरल कनिंघम के अनुसार जेजाभुक्ति साम्राज्य की सीमा में वह समस्त क्षेत्र आ जाता है। जो गंगा और यमुना के दक्षिण में नर्मदा महानद तक फैला है। आधुनिक सागर और बेलारी जिले भी उसमें आ जाते हैं।"[2]

प्रसिद्ध चीनी यात्री हुऐनत्सांग ने अपने भारत –भ्रमण (629–643 ई0) में इस क्षेत्र को "जुझौती" नाम से सम्बोधित किया है।[3]

---

(1) आर्क्यौलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया भाग–2 पृष्ठ, 413

(2) वही ....

(3) हुऐनत्सांग का भारत–भ्रमण : पृ0 634

बुन्देलखण्ड को विन्ध्येला भी कहते हैं। श्री गौरीशंकर द्विवेदी शंकर ने बुन्देलखण्ड की सीमा पर विचार करते हुए निम्नांकित फलक दिया है–

1–उत्तर में यमुना, दक्षिण में नर्मदा, पूर्व में टोंस

2–पश्चिम में चम्बल सीमा के अन्तर्गत आने वाले राज्यों की तालिका इस प्रकार है–

संयुक्त प्रान्त– झांसी, जालौन, बांदा, हमीरपुर

मध्यप्रदेश– सागर, दमोह और जबलपुर का कुछ अंश

उत्तर प्रदेश– मिर्जापुर और इलाहाबाद के कुछ अंश

इंदौर राज्य– आलमपुर

ग्वालियर राज्य– भिंड, ग्वालियर, गिर्दनरवर, ईसागढ़ और भेलसा

भोपाल राज्य–रायसेन, बेरसिया, सॉची, राजगढ़, नरसिंहगढ़, कुरवाई पठारी, मकसूदनगढ़, मोहम्मदगढ़, बासौदा

बुन्देलखण्ड की रिसायतें और जमीरें– ओरछा, दतिया, पन्ना, अजयगढ़, चरखारी, बिजावर, छतरपुर, समथर, बावनी, कदौरा, सरीला, दुरबई, बिजना, टोड़ी, फतेहपुर, बंकापहाड़ी, जिगनी, लुगासी, बीहट, बेरी, अलीपुर, गौरिहार, गरौली, बिलहरी, नेगवां रिबई [1]

डा0 सरला कपूर ने अपने शोध प्रबन्ध में बुन्देलखण्ड के मानचित्रीय सीमांकन पर विचार करते हुए लिखा है कि ''मानचित्र में इसकी स्थिति 23–24 ओर 26–50 उत्तरीय तथा 77–52 और 80–0 पूर्वी भू– रेखाओं के मध्य में है। इसका क्षेत्रफल 12,000 वर्गमील हैं।''[2]

चीनी यात्री हुऐन्तसांग 629–643 ई0 ने जुझौती (बुन्देलखण्ड) का क्षेत्रफल लगभग 4,000 वर्गमील (667) मील माना है।[3]

---

(1) गौरीशंकर द्विवेदी – 'बुन्देल वैभव पृ0 51–51

(2) हुएनत्सांग का भारत भ्रमण– पृ0 634

(3) डा0 सरला कपूर – ''बुन्देलखण्ड के नरेश कवि''–पृ0 20

बुन्देलखण्ड की भूमि उत्तर पूर्वीय भाग छोड़कर सर्वत्र ऊँची नीची और पर्वतीय है। जिसमें विंध्याचल, पन्ना तथा भांडेर पर्वत श्रेणियां फैली हुई हैं। जिनकी अधिकतम ऊँचाई 2000 फीट हैं। ये पर्वत श्रेणियाँ लम्बी मीलों तक चली गई हैं। पहाड़ियों पर कई किले और गढ़ियाँ बनी हुई हैं, जो अजेय हैं। यह देश उत्तर –पूरब की ओर ढालू है क्योंकि पश्चिमी सीमा से निकलती हुई नदियॉ उसी ओर बहती हैं। मुख्य नदियों में सिन्ध, बेतवा, केन, बारौन, पैसुनि, टोंस , पहूज और धसान हैं। ये नदियां गहरी और तेज बहने वाली हैं। यहॉ झील और जलाशयों से सिंचाई का कार्य होता है। बरूआ सागर दिनारा का ताल बड़ा प्रसिद्ध तालाब है जिनमें धींवर (ढीमर) मछली पकड़ने का धन्धा करते हैं। बरूआ सागर, मदनपुर, देवगढ़, जतारा तथा बेतवा और धसान के तटवर्ती स्थान प्राकृतिक दृश्यों के लिए अनुपम हैं।

बुन्देलखण्ड की भूमि वन वैभव से परिपूर्ण हैं। 14 लाख वर्गमील का यह क्षेत्रफल सघन जंगलों से घिरा है। यहाँ औसत वर्षा 30 से 45 इंच तक होती है। यहाँ के मैदानों में बबूल और नीम के पेड़ झरबेरी, छेवला आदि हैं और पर्वतीय भाग में साल, सागौन, सीसम, तेंदू, आंवला, बहेड़ के वृक्ष हैं। फलदार वृक्षों में चिरौंजी, सीताफल, रामफल, खजूर, बेर, आम, जामुन, महुआ आदि हैं। इसं देश में हीरे एवं अन्य कीमती पत्थर प्राप्त होते हैं। बुन्देलखण्ड के महाप्रतापी राजा महाराज छत्रसाल जो सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड के इकलौते राजा थे, उनके राज्यकाल में बुन्देलखण्ड की सीमाएं इस प्रकार निर्धारित थीं।

''इत जमुना उत नर्मदा, इत चम्बल उत टौंस
छत्रसाल सों लरन की रही न काहू हौंस''[1]

सीमा– निर्धारण के सम्बन्ध में एक बुझौवल भी लोक में प्रचलित हैं–

---

(1) बुन्देली लोक गीतों का सांस्कृतिक अध्ययन : डा0 मोती लाल चौरसिया पृ0 सं0 –18

"भैंस बंधी है ओरछा, पड़ा होसंगाबाद

लगवैया है सागरे, चपिया रेवा पार"

इस तरह चार नदियों के मध्य बसे हुए इस क्षेत्र का सौन्दर्य देखने ही बनता है। यहाँ पर अधिक पहाड़ी क्षेत्र है। यहाँ भूमि काली होती है। यहाँ केवल यमुना तट के बांदा, हमीरपुर, जालौन एवं अन्य जिलों के थोड़े से भू-भाग को छोड़कर कोई भी ऐसा भाग नही हैं जहाँ पर्वत श्रेणियाँ न हो। विंध्याचल पर्वत श्रेणियां -यह पर्वत श्रेणी दतिया राज्य में सेवढ़ा कन्नरगढ़ से पॉच मील उत्तर सिंध नदी के तट के केशवगढ़ से प्रारम्भ होती है। (26^0, 24^0, 78^0, 50^0) यहाँ से दक्षिण पूर्व की ओर होती हुई कालिंजर अजयगढ़ बरगढ़ से विन्ध्यवासिनी देवी, सूरज महल और राजमहल से होकर गंगा किनारे चली गई है। पन्नाश्रेणी यह पर्वत कर्वी तहसील तक फैला हुआ है इसकी ऊँचाई 1000 फुट तथा चौड़ाई 10 मील के लगभग है। कैमूर श्रेणी यह पर्वत भी कर्वी से प्रारम्भ होकर भाँडेर श्रेणी के बराबर चलकर कुछ दूर तक जबलपुर और दमोह सीमा पर चलती है। इसके अतिरिक्त ग्वालियर सीमा पर मायापुर की घाटी भी है।

बुन्देलखण्ड में प्रमुख रूप से 4 नदियॉ ऐसी है जो बुन्देलखण्ड की सीमा का निर्धारण करती हैं। ये नदियाँ यमुना, टोंस (सोन) नर्मदा, चम्बल, बेतवा, सिंधु हैं।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र के जंगली क्षेत्र में बड़े-बड़े हिसंक जीव जन्तु पाए जाते हैं। यह प्रदेश पहाड़ों से घिरा होने के कारण यहाँ गर्मी में ज्यादा गर्मी और सर्दी में ज्यादा सर्दी पड़ती है।

'बुन्देलखण्ड की साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति'

यह भूमि आर्य सभ्यता के आगमन के पूर्व अनार्य कालीन संस्कृति के प्राचीनतम रूपों की क्रीड़ा भूमि रही है। भारद्वाज , याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों के आश्रम बुन्देलखण्ड के

अन्तर्गत हैं। रामायण के वर्णन के अनुसार बाल्मीकि, अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त ऋषियों के आश्रम इसी प्रदेश में थे।

यहाँ का कला–कौशल उच्च कोटि का रहा है। एरन स्थित जयस्तंभ तथा बराहमूर्ति में प्राचीन शिलालेख खुदे हुए हैं। जवनपुर की रूपनाथ की चट्टानों पर अशोक की प्रशस्ति अंकित है।

महाराज रघुराजसिंह के काल में संगीत कला भारत में चरम सीमा पर थी। तानसेन और मधुरअली जैसे संगीतज्ञों ने इस प्रदेश को गौरव प्रदान किया है। स्व0 भवानीसिंह दतिया नरेश के समय में गुल्ला प्रसिद्ध नर्तक था और कुदौसिंह पखावजी।

बुन्देलखण्ड की पुण्यस्थली विद्वान कवियों एवं साहित्यिकारों की लीला भूमि रही है जिसकी गोद में पलकर आचार्यो एवं कवियों ने साहित्य स्रजन किया है। चारण कवि चंदवरदाई जगनिक को यहाँ से प्रतिभा प्राप्त हुई। अकबर के विनोद प्रिय दरबारी वीरबल, प्रसिद्ध अर्थशास्त्री राजा ट्रोडरमल यहीं के थे। आचार्य केशवदास ने ओरछा की राजसभा में रहकर साहित्य निर्माण किया। कविकुल चूड़ामणि तुलसीदास की जन्मभूमि राजापुर रही है।

यहाँ के राजा साहित्य प्रेमी रहे हैं – पन्ना छतरपुर, बिजावरा, अजयगढ़, चरखारी, दतिया समथर के राजा कवियों के आश्रय दाता रहे हैं। राजा छत्रसाल कविता प्रेमी रहे हैं। वे स्वयं कवि थे और पत्र–व्यवहार कविता में करते थे। उन्होंने कृष्ण चरित्र नामक काव्य ग्रन्थ लिखा है।

गोरेलाल पुरोहित उपनाम 'लालकवि' ने वीररस का काव्य छत्रप्रकाश दोहे, चौपाइयों में लिखा है। बुन्देलखण्ड के आधुनिक कवि एवं लेखकों ने बड़ी ख्याति प्राप्त की है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण गुप्त, डा0 वृन्दावनलाल वर्मा, पं0 बनारसीदास चतुर्वेदी आदि

ने इसी तपोभूमि में पलकर साहित्य की अभिवृद्धि की।

बुन्देली काव्य में विभिन्न साधनाओं, जातियों और कलाओं आदि का परिचय भी मिलता है। काव्य का आधार इसीलिए बुन्देलखण्ड की नदियाँ, पर्वत और उन वीरों को बनाया गया है। विभिन्न प्रवृत्तियों और आन्दोलनों के आधार पर बुन्देलखण्ड काव्य के कुल सात युग माने जा सकते हैं।

1– भाषा काव्य आन्दोलन– नवीं शती विक्रमी से तेरहवीं शती तक

2– कथा काव्य काल– तेरहवीं से सोलहवीं शती विक्रमी तक

3–रीति भक्ति काव्य काल – सोलहवीं शती से सत्रहवीं शती विक्रमी तक

4– सांस्कृतिक उन्मेष काल – सत्रहवीं शती से अट्ठारवीं शती विक्रमी तक

5– श्रृंगार काव्य काल– अट्ठारहवीं शती से उन्नीस सौ पचास विक्रमी तक

6– स्वतन्त्रता पूर्व आधुनिक – सम्वत् 1950 से 2000 विक्रमी तक

7– अत्याधुनिक काल – सम्वत् 2000 से अब तक।

छान्दस का संस्कृत में और संस्कृत में अपभ्रशों के माध्यम से लोक भाषा में विकसित होना, एक घटना नहीं है, यह समय की आवश्यकता रही है। छान्दस प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश के समीकरणों पर अनेक विचार दिये गये हैं। छठी शताब्दी से अपभ्रंश का प्रयोग भाषा के रूप में मिलता है। 12 वीं शताब्दी तक वह साहित्यिक भाषा भी रही है पर जनपदीय बोलियों से यह भी मुक्त नही मानी गयी है।

मौखिक परम्परा के महाकाव्य आल्हखण्ड का वैशिष्ट्य बुन्देली का अपना है। यह प्रबन्ध काव्य समस्त कमजोरियों के बाबजूद बुन्देली जन सामान्य को नीति और कर्तव्य का पाठ सिखाता है। बुन्देलखण्ड के प्रत्येक गाँवों में घनघोर वर्षा के दिन 'आल्हा' जमता है।

आल्हा भले ही मौखिक परम्परा से आया है, पर बुन्देली भूमि संस्कृति और बोली का प्रथम महाकाव्य है, जगनिक इसके रचयिता हैं। बुन्देली कवियों ने जन भाषा में काव्य रचनाऐं प्रस्तुत कीं। कथा काव्य शैली में दोहा सोरठा, चौपाई और छन्दों का प्रयोग अधिक है।

आचार्य कवि केशवदास ने बुन्देली गारी (लोकगीत) को प्रमुखता से अपने काव्य में स्थान दिया और सवैया में इसी गारी–गीत को परिष्कृत रूप में रखा है। वहीं राम चन्द्रिका के सारे सम्वाद सवैयों में हैं। ऐसी सम्वाद योजना दुर्लभ है।

बुन्देली के अनेक मुहावरों का प्रयोग बिहारी सतसई में मिलता है। इस प्रकार सामाजिक परिस्थितियों की कोख से पहले लोक काव्य ने जन्म लिया, बाद में परिनिष्ठित काव्य ने। पर कभी–कभी परिनिष्ठित कविता से प्रभावित होकर भी लोक काव्य का अवतरण हुआ है।

हम ये मानते हैं कि लोक कलाओं की एकता स्वयं सिद्ध है। उदाहरण के लिए जो नौरता की लोक कथा लोकगीत अर्थात लोक साहित्य है, वही उसके लोकसंगीत लोक चित्रों, लोक मूर्तियों और लोकनृत्यों में है। यह कलागत एकता लोक संस्कृति की सुरक्षा के लिए कारगर सिद्ध हुई है। दूसरी बात यह है कि लोक–साहित्य को शिष्ट साहित्य का पिछलग्गू नही समझना चाहिए, क्योंकि रूढ़िबद्ध साहित्य को लोक साहित्य ने ही नयी दिशा दी है। उसकी जड़ता को तोड़कर नयी ताजगी से उसका कायाकल्प किया हैं।

इस तरह आज के आधुनिक युग में जब साहित्य की अन्य विधाओं को छोड़कर स्वतंत्र रूप से काव्य का सृजन होने लगा है, फिर भी कहावतें, मुहावरें एवं लोकोक्तियों का प्रयोग ज्यों का त्यों हो रहा हैं। अतः इस दृष्टि से भी साहित्य महत्वपूर्ण रहा है।

मध्ययुग में स्त्रियों को उतनी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी जितनी आज है फिर भी बुन्देलखण्ड में परदे का रिवाज अधिक है। यहाँ के हिन्दु–मुसलमान आपस में एक दूसरे के

धर्मोत्सवों को मिलजुलकर मनाते हैं। मुसलमान स्त्रियां भी अठवाई नारियल से देवी की पूजा करती हैं। यहाँ के लोगों में अंध विश्वास मूलक प्रवृत्तियाँ घर किये हुए हैं। वे प्रत्येक बीमारी को देवी का कोप समझकर देवी–देवताओं की मान्यता मानते हैं। साधु, सन्यासी, पीर, मौलवी, औलिया और सिद्ध पुरूषों की दुआ और भभूत (भस्म) में संतान प्रदायिनी शक्ति मानते है। सवर्ण हिन्दुओं में स्त्री का विवाह एक बार ही होता हैं पति की मृत्यु पर दूसरे विवाह का कोई विधान नहीं है।

परम्पराओं की उंगली पकड़ता ये समाज हमारे पारिस्थितिक दर्पण का कार्य करता आया है। लोक में जो परम्परा से चलता आया है चाहे वो रीति–रिवाज हो रहन–सहन हो, खान–पान हो, धार्मिक भावनाएं आदि हो इनका अनुसरण करता हुआ लोक आज भी हमारी संस्कृति में विद्यमान है। समाज में व्याप्त अनेक प्रथाएं दृष्टिगत होती हैं।

9 वीं और 11 वीं सदी में बीच ही बाल विवाह की प्रथा बुन्देलखण्ड में प्रचलित हो गई थी। ''पराशर स्मृति में कन्या के विवाह के लिए आठ वर्ष की अवस्था का विधान किया गया है'' ।[(1)]

बुन्देलखण्ड का धार्मिक इतिहास धर्म की विभिन्नताओं से भरा हुआ है। यहाँ लोगों की धर्म भावना भूतवाद, बहुदेव वाद, एकेश्वर वाद और सर्वेश्वरवाद तक विकसित हुई है। एक ओर तो लोकजीवन ने धर्म की दार्शनिकता को अपनाकर जीवन के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित किया तो दूसरी ओर आध्यात्मिकता की भावना का उदय हुआ। वैदिक कर्मकाण्ड में दोष आने लगे और धर्म की कट्टरता बढ़ने लगी तब आचार और नैतिकता की प्रधानता लेकर नये विचार प्रादुर्भूत हुए। पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ गई और ब्रह्मा विष्णु, महेश , सूर्य, गणेश

(1) अष्टवर्णामुद्वहते (अप्रकाशित)

देवी देवाताओं की पूजा होने लगी तथा अवतार वाद की प्रतिष्ठा सारे जन–मानस पर छा गई।

इस प्रकार यहाँ मूर्ति के साकार रूप में राम–लक्ष्मण, सीता, शिव, हनुमान, देवी आदि की पूजा होने लगी।

यहॉ हरदौल की पूजा विवाह के अवसर पर की जाती है। बुन्देल बाबा भी पूजे जाते हैं। पौरिया बाबा की पूजा राजपूत योद्धा की स्मृति के रूप में होती है। इस क्षेत्र में लोग कई देवों के उपासक हैं। अघोरी, बाम मार्गी, नाथपंथी, कबीरपंथी, नानकपंथी, धामी, संतमत, जैन, सनातनधर्मी, वैष्णव, बल्लभ सम्प्रदायी, हरदौल के पूजक, पॉचों वीर के उपासक आदि विभिन्न धर्मावलंबी हैं। तीर्थ , मंदिरों, नदियों, पर्वतों आदि पुण्य स्थानों के दर्शन आदि को मोक्ष का साधन माना जाता है। बुन्देलखण्ड में खजुराहों में तीस मंदिर बने हुये हैं। चित्रकूट में कामता नाथ या कामदगिरि संघर्षण पर्वत पर सीता रसोई और हनुमान धारा है, स्फटिक शिला है, जहाँ जयन्त ने सीताजी को चोंच मारी थी। भरत कूप, गुप्त गोदावरी आदि तीर्थ स्थान हैं। सोनागिरि में जैन मंन्दिर निर्मित हैं।

यहॉ के लोग पत्थरों, पेड़ों, नदियों एवं पहाड़ों को दैव रूप मानकर उनकी पूजा करते हैं। विंध्याचल पर्वत को पुराणों में समस्त पर्वतों का मान्य माना गया है और उसकी गणना सात कुल पर्वतों में की गई है।

बुन्देलखण्ड के स्त्री पुरूष धर्म परायण व्यक्ति हैं। लोग विशेष पर्वों पर नर्मदा स्नान करते हैं। यहाँ लोग शक्ति उपासक भी हैं। शक्ति पूजा का मूलस्त्रोत प्राक –ऐतिहासिक है। यह वैदिक धर्म से भी पुराना
है। मध्य एशिया, अजीरिया और सिंधघाटी में सभी जगह मातृशक्ति की महत्ता प्रस्थापित की गई। शाक्तों का धर्म स्थल कामाख्या पर्वत बना रहा। आज भी बुन्देलखण्ड में घर–घर में देवी माता

की पूजा प्रमुखतः से होती है। कोई बीमार हो या दुःखी होने पर स्त्रियां घर से देवी की मढ़िया तक सरैं भरती हुई जाती हैं। लोग नव दुर्गा में शतचंडी, सहस्त्र चंडी का पाठ करते कराते हैं। रामायण, महाभारत भागवत में विशेष आस्था रखते हैं।

धार्मिक मान्यताऐं एंव लोक विश्वास बुन्देलखण्ड लोक–जीवन अपनी धार्मिक मान्यताओं, देवी–देवाओं लोक, विश्वासों के प्रति सजग तथा सचेत है। टोना–टोटका, शकुन–अपशकुन, गंडा–ताबीज, भूत–प्रेत आदि के प्रति आस्था तथा विश्वास जन–जीवन में व्याप्त है।

लोक जीवन धर्माधारित है। बुन्देली जन जीवन भी व्रत–त्यौहार पूजा उपासना से जुड़ा है। बुन्देलखण्ड की धर्म प्राण जनता की मनोवृत्ति के प्रत्यक्ष उदाहरण बुन्देलखण्ड के अगणित मंदिर हैं, जिसके परिणमस्वरूप भारत का ह्रदयस्थल बुन्देलखण्ड अनेक जातियों के लिए तीर्थध ाम बना हुआ है।

यहाँ की लोक–संस्कृति का शुद्ध रूप ग्रम्यांचलों में दिखाई पड़ता है। ग्रामीण जनता का जीवन देवताओं में कृष्ण से अत्यधिक प्रभावित है। रामोपासक भी हैं। लेकिन कृष्णोपासकों की तुलना में अत्यल्प। ब्रज के सन्निकट होने के कारण ब्रजी संस्कृति का सम्भिश्रण अवश्यंभावी हैं। अतः दैनिक जीवन तथा लोक–साहित्य कृष्ण भक्ति से पूर्ण है।

ओरछा नरेश वीरसिंह देव द्वारा निर्मित ओरछा का ऐहिासिक महल तथा राधाकृष्ण का मंदिर उनके कला प्रेम तथा भगवद्भक्ति का प्रतीक है। पुरातात्विक वस्तुओं से किसी देश–प्रदेश के उत्थान–पतन की जानकारी प्राप्त होती है। पुरातात्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण तथा प्राचीन गौरव गाथा के प्रतीक बुन्देलखण्ड के स्तूप, स्मारक, सिक्के, प्राचीन शिलालेख, मन्दिर, छतरियाँ, किले व महलों के भग्नावशेष इस बात के प्रमाण हैं कि इसका अतीत कितना वैभवपूर्ण, आध्यात्मिक चेतना कितनी विकसित तथा भौतिक एवं बौद्धिक क्षमता कितनी समुन्नत रही है। पाषाण काल

से अद्यतन की संस्कृति यात्रा के ये पद् –चिन्ह इधर–उधर बिखरे पड़े, शासन तथा हमारी उपेक्षा परं आंसू बहा रहे हैं।

हमारा हिन्दू समाज सदा धर्मप्राण रहा है। इस लिये स्त्री समाज में भक्ति का स्त्रोत सूख नहीं सका है। स्त्रियाँ आज भी पति, पुत्रादि की मंगल कामना करती हुई देवी–देवताओं की मनौतियाँ मनाती और पूजा करती हैं। धार्मिक जीवन बिताने में ही वे अपने जीवन की सार्थकता मानती हैं। बुन्देलखण्ड के नर–नारी मिथ्या, शंका, भय और आतंक से भयभीत रहते हैं। उनके जीवन की स्वाभाविकंता सरलता, भावुकता और संवेदनशीलता, बुद्धि और विवेक की न्यूनता आदि प्रवृत्तियां भक्तिपूर्ण वातावरण निर्मित होने का उपयुक्त अवसर तलाश करती हैं। नक्षत्र विद्या और फलित ज्योतिष में उनका गहरा विश्वास है। व्रत उपवास एवं ध्यान–पूजन करने से मृत्यु के पश्चात सम्पन्न परिवार में मनुष्य योनि में जन्म मिलेगा यह भावना स्त्रियों में पूर्णरूपेण व्याप्त है।

इस प्रकार भारतीय समाज धर्मप्राण रहकर अध्यात्मवाद की ओर विशेषोन्मुख रहता है। फिर भी भावनाएं बहुत गहरी जड़ें जमा चुकी हैं। सरल मानव की धार्मिकता उनके लौकिक और परलौकिक जीवन में छा गई हैं, जिससे उन्हें जीने का दृढ़ आधार मिला है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है, अर्थात किसी भी समाज का विम्ब–प्रतिविम्ब उसके द्वारा निर्मित साहित्य में प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार के भाव– विचार उदभूत होकर समाज का चित्र प्रकट करते हैं। जो कलाकार के हाथों में पड़कर निखर उठते हैं। कोई भी चिन्तन– धारा बिना किसी आधार या मूल के एकाएक प्रकट नहीं होती। उसके उदभव और विकास के कारण, सामयिक समाज व्यवस्था में अन्तर्निहित रहते हैं। सामाजिक विकास के क्रम में उत्पन्न विषमताएं और परिस्थितियाँ , नये विचारों को जन्म देती हैं जो साहित्य में अभिव्यक्त

होने लगते हैं। तात्पर्य यह है कि साहित्य के विभिन्न उपादान, समाज के विभिन्न परिवेश तथा धरातल पर कलाकार को प्रेरित करते हैं। वे उपादान प्राकृतिक सौन्दर्य के रूप में खिले फूल की तरह इस तरह बिखरे रहते हैं, जिन्हें एकत्र कर कुशल माली की भाँति साहित्यकार एक सुसंगठित गुलस्ते का रूप प्रदान करता है और उनकी उपयोगिता में वृद्धि कर उसे मौलिक रूप में समाज को भेंट करता हैं। ''मध्य काल में बुन्देलखण्ड साहित्य का प्रसिद्ध केन्द्र रहा है, किन्तु यहाँ होने वाले कवियों ने ब्रजभाषा ही में कविताएँ की हैं। यद्यपि उनकी भाषा पर बुन्देली बोली का प्रभाव अधिक पाया जाता है। बुन्देली उपभाषा और ब्रजभाषा में बहुत साम्य है। सच तो यह है कि ब्रज, कन्नौजी तथा बुन्देली एक ही उपभाषा के तीन प्रादेशिक रूपमात्र हैं।''(1)

ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व में बुन्देली को बुन्देलखण्ड की बोली का नाम दिया गया होगा, परन्तु बाद में उसका क्षेत्र विस्तृत हो गया और उसमें साहित्यिक रचनाएँ होने लगी। 9 वीं शताब्दी से 12 वीं शताब्दी तक भारत में कई राज्यों का उदय हुआ। बुन्देलखण्ड के चन्देले, छत्तीसगढ़ के कलचुरि, अवध के गहरवार, पूर्वी राजपूताने के कछवाहे और मालवा के परमार– आदि छोटे–छोटे राज्यों और जन जातियों की सत्ता स्थापित कर रहे थे। इन राज्यों में साहित्यिक भाषा उत्थान पा रही थी। तभी प्रान्तीय जनभाषाएं मैथिली, अवधी, गवालियरी और खड़ी बोली आदि भी विकासशील हो रही थी।। डॉ धीरेन्द्र वर्मा का कथन है, ''साहित्य के क्षेत्र में खड़ी बोली हिन्दी के व्यापक प्रभाव के रहते हुए भी हिन्दी की अन्य प्रादेशिक बोलियाँ अपने–अपने प्रदेशों में आज भी जीवितावस्था में हैं। मध्यप्रदेश के गाँवों में समस्त जनता अब भी खड़ी बोली के अतिरिक्त ब्रज, अवधी, बुन्देली भोजपुरी, छत्तीसगढ़ी आदि उपभाषाओं के आधुनिक रूप का व्यवहार करती रही है'' ।(2)

---

(1) हिन्दी भाषा का इतिहास –भूमिका – डा0 धीरेन्द्र वर्मा पृ0 65

(2) वही ....पृ0 83

साहित्यिकों ने बुन्देली के रूप को संवारा– सजाया है। भाषा और साहित्यक का विकास सम्बन्धित क्षेत्र की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक, परिस्थितियों पर निर्भर रहता है।

चन्देलों ने बुन्देलखण्डी संस्कृति की नींव डाली थी। साथ ही उसे पहचान देने के लिए उसके व्यक्तितत्व को तराशा था ताकि उसकी अलग अस्मिता बन सके। वीर–गीत, राछरे, देवी परक वीर गाथाएँ और लोक महाकाव्य 'आल्हा' वीरत्व प्रेरित राष्ट्रीयता को जगाने हेतु लोक प्रचलित हुए थे। महोबा के वीर नरेश महाराजा परिमाल, चन्देल काल के चन्देली महाकवि एवं हिन्दी के आदि कवि जगनिक ने अपने महाकाव्य "आल्हखंड" में चन्देली वैभव, पराक्रम तथा सेना नायकों, आल्हा ऊदल की वीरता और रण कुशलता का यशस्वी वर्णन किया है। आल्हा ऊदल की वीरता आज भी गाँव–गाँव गूँज रही है। किन्तु इस तथ्य पर भी ध्यान रखना चाहिए कि आल्हा भारत का एक राष्ट्रीय लोककाव्य है। उसकी गायकी भी राष्ट्रीय लोक गायकी है। यह सही है कि लोक गायकी किसी न किसी गायक के कण्ठ से सहज ही फूटी है। और गायक को उसमें नवीन प्रयोग का पूरा अधिकार है, किन्तु लोक के ग्रहण करने के बाद ही उसे लोक गायकी की संज्ञा प्राप्त हो सकती है। एक और सजगता यह भी जरूरी है कि सहज स्वच्छंद, निर्बन्ध और निरलंकृत लोक गायकी की व्याख्या और विश्लेषण उसी की निसर्ग प्रकृति के अनुरूप हो।

आल्हा लोक गायकी का प्रारम्भ 12 वीं शती के अंतिम दशक में हुआ था। 'आल्हा' गाथाओं की मौखिक और लिखित दोनों परम्पराएं आज तक जीवित हैं, और विशेषता यह है कि दोनों में जागरूकता और ताजगी है। पहली परम्परा है मौखिक जो लोक और अधिकतर अल्हैतों में सुरक्षित है। अल्हैतों या आल्हा–गायकों की अपनी अलग– अलग परम्परा गुरू से शिष्यों तक चलती हुई आज तक बनी हुई है।

लोक गायकी में साखी और 'आल्हा' या 'आल्ह छन्द' का गायन सम्मिलित है। आल्हा की गायकी पॅवाड़ों या देवी ग़ीतों की गायन–शैली से प्रेरित थी। दोनों को कथा–गायन शैली में ढालकर आल्हा गायकी का उद्‌भव हुआ है।

इनके अलावा महत्वपूर्ण विकासोन्मुखी पक्ष कथावाचन शैली का उत्कर्ष है। लखन सेन– पद्‌मावती कथा (1459 ई0) मधुमालती विलास (1479–80 ई0) छिताई कथा (1516 ई0 के लगभग) आदि इसी समय रची गयी थीं और उसके रचनाकारों का उद्‌देश्य था– राष्ट्रीय चेतना के जागरण का संदेश देना जिसे वे किसी न किसी कथा के माध्यम से लोक या जनता में सुनाकर अपने कवि कर्म का निर्वाह करते थे। इस रूप में कथा गायकी का क्रमिक विकास दिखाई पड़ता है।

इस तरह 1857 की आजादी की लड़ाई में लोक गायक 'हरबोलों' और आल्हा गायकों के ऊर्जा भरे वीर गीतों का योगदान अविस्मरणीय है। पर अंग्रेजों के दमन के बाद लोक कवियों ने एक नई करवट ली और हर क्षेत्र में नया लोक स्वर फूटा। बुन्देलखण्ड में फाग, सैर आदि लोक काव्य की विधाएँ नये विषय और नयी संरचना के साथ प्राणवान हुई। पँछी करगवाँ के शिवदयाल कमरिया, झांसी के नवलसिंह कायस्थ, जिगनी के दिशाराम भट्‌ट आदि ने आल्हा अनुकरण पर अपने–अपने आल्हा ग्रन्थों की रचना की।

"पश्चिमी विद्वानों सर चार्ल्स इलियट वी0 स्मिथ, डॉ ग्रियर्सन आदि ने गायकों से पाठ संग्रह करवाया और कन्नौजी, बनाफरी तथा खड़ी बोलियों के कुछ पाठ प्रकाशित हुए। डॉ0 शंभूनाथ सिंह ने आल्हखण्ड के मूलरूप को साहित्यिक प्रबंध–काव्य कहा है"।[1]

साखी एक प्रकार का दोहा छन्द हैं और जहाँ अप्रभ्रंश का लाड़ला रहा हैं, वहाँ

---

(1) बुंदेली संस्कृति और साहित्य – पृ0 56

लोक गायकी का भी। बुंदेली के दिवारी लोकगीत केवल दोहे छंद में हैं। जबकि सखियाऊ फाग दोहे में लटकनिया लगाकर बनी है।

चन्देल काल की कला, स्थापत्य कला, शिल्प कला मूर्तिकला और साहित्य का युग निश्चित ही स्वर्णिम युग का संकेत देता है।

बुन्देलखण्ड की काव्य–परम्परा प्राचीन काल से अबाध एवं अविचिछन्न रूप में चली आ रही है। मध्यकाल मुं बुन्देली साहित्य का विकास हुआ तथा अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। गोस्वामी विष्णुदास पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के श्रेष्ठ रचयिता हैं। इन्होनें रूक्मिणी मंगल के गेय पदों के अतिरिक्त महाभारत कथा, स्वर्गारोहण कथा और मकरध्वज कथा ग्रंथ लिखे हैं।

अकबर के प्रिय दरबारी बीरबल यहीं के थे जिनके विनोदी चुटकुले बड़े प्रसिद्ध हैं। मंत्री टोडरमल भी यहीं के थे जिन्होनें भी काव्य – रचना की है। बुन्देली के विकास के सम्बन्ध में केशवदास और बिहारीलाल का नाम भी बेजोड़ है। इन महाकवियों की भाषा ब्रज भाषा होकर भी बुन्देली का इनके काव्यों में पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। इसमें आश्चर्य की बात भी नहीं है। क्योंकि कविगुरू तुलसीदास जी चित्रकूट और राजापुर में रहे हैं। उनके रामचरित मानस तथा अन्य ग्रंथों में अवधी ब्रजभाषा के साथ बुन्देली का भी सम्मिश्रण है। कवीन्द्र केशवदास जो कि ओरछा में जन्में उन्होने रामचन्द्रिका, कविप्रिया, वीरसिंहदेव चरित विज्ञान, गीता आदि की रचनाएं की। केशवदास के ग्रन्थों की भाषा के सम्बन्ध में डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है ''बुन्देलखण्ड तथा राजस्थान के देशी राज्यों के सम्पर्क में आने के कारण इस काल के बहुत से कवियों की भाषा में जहॉ – जहॉ बुन्देली तथा राजस्थानी बोलियों का प्रभाव आ गया है। उदाहरण के लिए केशवदास (1600 ई0) की ब्रज–भाषा में बुन्देली प्रयोग बहुत मिलते हैं।''[1] यह प्रभाव शब्दों के

---

(1) बुंदेली संस्कृति और साहित्य – पृ0 56

प्रयोग क्रिया के काल तथा संज्ञा, सर्वनाम रूपों में भी मिलता है। ओरछा तो साहित्य का केन्द्र रहा है वहाँ के राजा छत्रसाल उच्च कोटि के कवि थे। छत्रसाल तो पत्र – व्यवहार भी कविता में करते थे। जब बुन्देलों पर मुगलों ने आक्रमण किया तब छत्रसाल ने बाजीराव पेशवा को सौ दोहों का एक पत्र लिख भेजा। छत्रसाल ने कृष्ण चरित्र नामक काव्य–ग्रंथ लिखा है।

इसके अलावा भाई चिन्तामणि , मतिराम, लालकवि, नेवाज कवि, पं0 राजधर मिश्र, उदौतसिंह इत्यादि कवियों ने भी काव्य की रचना की। अठारहवीं शताब्दी में अन्य उल्लेखनीय कवि पृथ्वीसिंह रसनिधि दतिया, हरिकेश कवि, बक्षी हंसराज, कारे कवि, दूल्हराय कवि, विक्रमाजीत महाराजा ओरछा इन्द्रमणि, महाराजा जसवंतसिंह महाराज तथा भारतीय चन्द महाराजा – सभी अच्छे कवि हुए।

इन कवियों के अतिरिक्त वर्तमान कवियों में से श्री ईसुरी की फाग, श्री गंगाधर व्यास की फागें भी ख्याति प्राप्त हैं। सैरों के रचयिताओं में श्री घनश्यामदास पाण्डेय, नाथुराम माहौर तथा भग्गी दाऊजी 'श्याम' के नाम बड़े आदर के साथ लिये जाते हैं।

श्री नाथू राम माहौर के एक 'ख्याल' झांसी की रानी लक्ष्मी बाई के सम्बन्ध में मिलता है–

"सन सत्तावन में स्वतंत्रता की प्रिय बजौ नगारौ है।
हो मन मगन करन रानी ने धारौ नगन दुधारी हैं"।[1]

रामप्रसाद उपरीन ने 'ज्ञानकली' लिखकर सुसंस्कृत गारियों का नया मोड़ बुन्देलखंडी नारी को दिया है। रामचरण हयारण 'मित्र' बुन्देली के अच्छे कवि हैं । उन्होंने खड़ी बोली में काव्य ग्रंथ भेंट, साधना, सरसी, ओरछा दर्शन आदि लिखे। साथ ही 'लोलैया' में बुन्देली

---

(1) श्री माहौर : अभिनन्दन ग्रंथ माहौर माधुरी पृ0 38

गीत की रचना की है। इसके अतिरिक्त बुन्देली भाषा और साहित्य को प्रकाश में लाने का श्रेय श्री कृष्णानन्द गुप्त गरौठा को मिलता है, जिन्होंने बुन्देली साहित्य का संकलन एवं संग्रह कार्य स्वयं किया तथा अन्य साहित्यकारों को प्रोत्साहित किया है। बुन्देली लोक समाज गीतों, कथाओं और लोक नाट्यों के अतिरिक्त मनोरंजनात्मक बुद्धि परक ज्ञान की सूक्तियों को सुरक्षित रखे हुये है। वेद उपनिषद एवं धार्मिक व्रतों और अवदानों की मान्यता बुन्देलखण्ड के घर–घर में है।

इस तरह देश के विभिन्न क्षेत्रों के समान ही बुन्देलखण्डी भूमि का मानस धरातल भावों की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित है। यहाँ के आचार–विचार, संस्कार, रीतिरिवाज एवं मान्यताएँ उसी रूप में प्रचलित हैं, जैसी अन्य प्रान्तों में। भले ही आनुष्ठानिक अभिचारों में थोड़ी बहुत विभिन्नता हैं यहाँ के धार्मिक व्रत, त्यौहार और उनसे सम्बन्धित लौकिक अभिचार तथा कथाएँ बालक और बालिकाओं के खेल तथा खेल गीत स्त्रियों द्वारा संस्कारों की औपचारिकता तथा तत्सम्बन्धी गीत, सामाजिक रीतियाँ, लौकिक विश्वासों की रूढ़िवादिता, स्त्री पुरूषों की पारस्परिक वासनात्मक अभिव्यक्तियाँ कौटुम्बिक स्नेह, एवं विद्वेष की प्राकृत भावनाएँ भारतीय लोक साहित्य में समान रूप से उद्भासित हुई हैं।

इस सम्बन्ध में रवीन्द्र नाथ ठाकुर के विचार पठनीय है– "यदि सब देशों के लोक गीत संकलित किये जा सकें और उनका तुलनात्मक अध्ययन हो, तो यह प्रत्यक्ष होगा कि उनमें एक ही मन और एक ही ह्रदय छिपा है, जो मनुष्य मात्र में समान है"।[1]

And if the folksongs of all the countries could colected and compaired. it would be seen that there was one mind and one heart underlying there common to all mankind- Tagore- Mordern Review sept. 1934.

---

(1)उक्त पुस्तक E.J. Brill, 30 A ouderijn, oeiden, Holland से प्रकाशित हुई है।

पाश्चात्य विद्वान डॉ0 ग्रियर्सन ने अपने भारत के भाषा सर्वेक्षण के 9 वें खंड के भाग 1 में पश्चिमी हिन्दी (बुन्देली आदि) के व्याकरण का विश्लेषण दिया है। डॉ0 रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल का बुन्देली का भाषा शास्त्रीय अध्ययन नामक शोध ग्रंथ 'विश्व विद्यालय हिन्दी प्रकाशन लखनऊ' में प्रकाशित हुआ है।

गीतों के रचनाकाल एवं उनके लेखको के अज्ञात नाम होने के सम्बन्ध में वे लिखते हैं "उन सब कविताओं में चिरत्व है। न मालूम कब किस काल में कौन सी कविता लिखी गई, किसने इन्हें लिखा, ये प्रश्न किसी के मन में उठते ही नहीं। इसी स्वाभाविक चिरत्व गुण के कारण ये आज रचित होने पर
भी प्राचीन हैं और एक हजार साल पहले लिखी जाने पर भी नवीन हैं।"[1] भारतीय नारी इस मौखिक साहित्य की सृजन एवं संरक्षिका रही है। उसने लोकगीतों की रचना में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। बुन्देलखण्ड में लोक साहित्य के प्रति अभिरूचि उत्पन्न करने का सर्वप्रथम प्रयास श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने किया। उन्होनें 'मधुकर' मासिक पत्र कुन्डेश्वर टीकमगढ़ से अक्टूबर 1940 में निकाला जिसमें बुन्देलखण्ड की संस्कृति एवं लोकसाहित्य सम्बन्धी सामग्री की प्रचुरता पाई जाती है। ओरछेश श्री वीरसिंह देव के संरक्षण तथा श्री कृष्णानन्द गुप्त के संपादकत्व में लोकवार्ता त्रैमासिक पत्रिका जून 1944 में निकाली गई, जिससे लोक साहित्य सम्बन्धी शोधकार्य में प्रगति हुई। श्री कृष्णानन्द गुप्त ने लोकवार्ता के सम्पादकीय में पनवाड़ी (हमीरपुर) के श्री बारेलाल जी का नाम दिया है जिन्होंने ईसुरी, ख्यालीराम और भुजबल आदि लोक कवियों की फागें इकट्ठी करने का कार्य किया है, जो 200 फागें प्राप्त कर सके हैं। इन लेखकों ने बुन्देली लोकगीत, रीतिरिवाज, कहानियाँ ग्राम देवता आदि विभिन्न विषयों की संकलित सामग्री तथा विवेचनात्मक लेख लिखे हैं।

---

(1) लोक संस्कृति विशेषांक (सम्मेलन पत्रिका) सं0 2010 पृष्ठ 464

कुछ वर्ष पहले मऊरानीपुर (झांसी) में ''ईसुरी परिषद'' की स्थापना हुई है, जिसका उद्देश्य लोक साहित्य का संकलन तथा प्रकाशन है। श्री चन्द जैन ने सन 1954 में विंध यप्रदेश के लोकगीत ' पुस्तक निकाली है तथा 'मोरी धरती मैया' विंध्य के लोक कवि में बुन्देली लोक साहित्य सम्बन्धी विविध सामग्री प्रदान की है।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में मध्यप्रदेश की मध ययुगीन भाषा के इतिहास पर प्रकाश डाला है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (षोडश भाग) में बुन्देली लोक साहित्य पर कृष्णानन्द गुप्त ने विवेचन प्रस्तुत किया है।

यहाँ के पुरूष भी होली, स्वांग, भजन कीर्तन गाते समय प्रेम विभोर हो नृत्य करने लगते हैं। बुन्देलखण्ड़ का श्रृंगार प्रधान नृत्य राई– नृत्य है जिसमें टिमकी की झंकार, मंजीरे की मधुर खनखन के साथ मिलकर एक अजीव समां बंध जाता हैं। यहाँ के लोकगायक रास की एक विशेष धुन को निश्चित स्वर में बॉधकर 'रसिया' गाते हैं। यहॉ के आदिवासी पुरूष शैला और अटारी नृत्य में निपुण हैं। ढोला
में ढोलामारू की प्रेम कहानी ढोलिया चिकाड़े की तान के साथ सुनाता हुआ श्रोताओं को मंत्रमुग्ध ा कर लेता हैं। ईसुरी की श्रृंगार एवं भक्ति समबन्धी फागें प्रत्येक बुन्देलखण्डी के मुंह से सुनाई देती हैं।

अतः संक्षेप में कह सकते हैं कि सामाजिक परिस्थितियों की कोख से पहले लोक काव्य ने जन्म लिया बाद में परिनिष्ठित काव्य ने।

'बुन्देली का विस्तार'

बुन्देली एक जन भाषा है और उसका अस्तित्व यहाँ के शत सहस्त्र नर नारियों के मुख से तंरगित होने वाली वाणी में ही देखा जा सकता है। बुन्देली का प्राचीन साहित्य नगण्य

है। भाषा शास्त्रियों ने यहाँ की भाषा और बोलियों के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया। इस संदर्भ में डा0 चिन्तामणि उपाध्याय का मत उल्लेखनीय है कि "लिखित साहित्य के समुचित प्रमाणों के अभाव में किसी भी भाषा के उद्‌गम एवं विकास के सम्बन्ध में मान्यताएँ निर्धारित करना अनेक भ्रान्तियों को जन्म दे सकता है।[1]

श्री राहुल सांकृत्यायन ने 'ग्वालियरी' के सम्बन्ध में लिखा है– "जान पड़ता है कि तुगलकों के शासन के अन्त में दिल्ली की सल्तनत कमजोर पड़ जाने पर ब्रज – ग्वालेरी भाषा के क्षेत्र में जो राज्य कायम हुआ उसका केन्द्र ग्वालियर था, इसलिए ब्रज– बुन्देलखंडी का नाम ग्वालेरी भाषा भी कहा जाने लगा।"[2] उन्होनें एक स्थल पर लिखा है– "जिसे हम ब्रज साहित्य कहते हैं, वह गवालियरी साहित्य के नाम से प्रसिद्ध था। यह आज का ब्रज बुन्देली कन्नौजी का सम्मिलित साहित्य था।"[3]

डॉ0 ग्रियर्सन ने लिखा है "बुन्देली पश्चिमी हिन्दी की बोली है यह बुन्देलखण्ड तथा उसके समीपस्थ प्रदेशों में बोली जाती है– ये तीनो विभाषाएँ– ब्रजभाषा, कन्नौजी और बुन्देली परस्पर बहुत निकट है और भीतरी उपशाखा की भाषा के विशिष्ट एवं विशुद्ध रूप हैं।[4] इसके अनतर्गत जालौन, हमीरपुर, झांसी तथा ग्वालियर राज्य का पूर्वी भाग भी आता है। यह भोपाल तथा उसके सीमपवर्ती, क्षेत्रों दमोह, सागर, सिवनी, नरसिंहपुर तथा मध्यप्रदेश के

---

(1) मालवी–एक भाषा शास्त्रीय अध्ययन पृ0 3– 4

(2) ग्वालियर और हिन्दी कविता–भारतीय अगस्त 1955, पृ0 167

(3) हरिहरनिवास द्विवेदी कृत 'मध्यदेशीय भाषा' (गवालियरी) की प्रस्तावना, पृ0 13 ले0 राहुल सांस्कृ त्यायन

(4) भारत का भाषा–सर्वेक्षण मूल ले0 डॉ0 ग्रियर्सन अनुवादक डॉ0 उदयनारायण तिवारी खण्ड 1 भाग 1 पृ0 300, 301

होशंगाबाद तथा छिंदवाड़ा जिलों के कुछ भू भाग में ही बोली जाती है। बाँदा यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से बुन्देलखण्ड् के अन्तर्गत ही आता है, किन्तु यहाँ बुन्देली नहीं बोली जाती। यहाँ मिश्रित बोली का व्यवहार होता है, किन्तु मुख्यतया यह बघेली ही है।''[1]

डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा ने भाषा के अनुसार जनपदों का वर्गीकरण इस प्रकार किया हैं–

(1) शूरसेन (ब्रज तथा बुन्देली का क्षेत्र)

(2) पांचाल (कन्नौजी भाषा क्षेत्र)

(3) कौशल और काशी (भोजपुरी क्षेत्र)

(4) कुरूक्षेत्र (कुरूभाषा का क्षेत्र)

इन सब भाषाओं को बुन्देली की बहनें कहना अनुचित न होगा क्योंकि उनमें अपने–अपने भू–भाग की प्राकृतिक स्थिति, सांस्कृतिक भेद और निजी विशेषताओं के सिवा बहुत कुछ सादृश्यता है।''[1]

डॉ0 भोलानाथ तिवारी का लिखना है कि ''बुन्देली शुद्ध रूप से झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भोपाल, ओरछा, (टीकमगढ़) सागर, नरसिंहपुर, सिवनी तथा होशंगाबाद में बोली जाती है। इसके मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, बालाघाट तथा नागपुर में प्रचलित हैं।''[2]

अतः उत्तर में ब्रज तथा कन्नौजी, पूर्व में अवधी, 'बघेली तथा छत्तीसगढ़, दक्षिण में मराठी, मालवी और पश्चिम में मालवी तथा राजस्थानी बोलियाँ बुन्देली की सीमा परिधि का निर्माण करती हैं। इन बोलियों से परिवृत बुन्देली में उनके सीमाक्षेत्र में सम्मिश्रण की स्थिति

---

(1) शिवसहाय चतुर्वेदीः बुन्देलखण्डी लोकगीत पृ0 16

(2) डॉ0 भोलनाथ तिवारी– हिन्दी भाषा पृ0 166

बनती है तथा अपनी सीमा में ये बोलियां एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। शेष भाग में बुन्देली अपने रूपों के साथ बोली जाती है।

'बुन्देली का विस्तार एवं उसकी उपबोलियाँ'

बुन्देलखंड की भाषा का नाम बुन्देली दिया गया है। सर जार्ज ए० ग्रियर्सन ने यहाँ की बोली के लिए 'बुन्देलखण्डी' नाम का प्रयोग किया है, जबकि सन 1843 ई0 में मेजर आर0 लीच0 सी0 बी0 (Major R. Leech. C.B.) ने इसे बुन्देलखण्ड की हिन्दुवी बोली (Hinduvee dialect of Bundelkhand) कहा है।[1]

विन्ध्याचल की श्रेणियां मीलों लम्बी होकर सारे प्रदेश को घेरे हुये हैं। गहन वन में निवास करने वाली आदिवासियों की बोली बुन्देली से भिन्न है। यहाँ का साधारण कृषक बड़ा भोला भाला है। जैसा यहाँ के ग्रामीण का सरल स्वभाव है वैसी ही यहाँ की बोली भी मधुर और सरल है। शब्दों के उच्चारण में तनिक भी श्रम नहीं करना पड़ता है।

बुन्देली लोक भाषा विशुद्ध बुन्देली है जिसमें देशी, विदेशी भाषाओं का सम्मिश्रण या खिचड़ी नहीं है। नगरों से निकट संपर्क न रहने के कारण लोक भाषा या बोली में स्वाभावकिता पाई जाती है। बुन्देली के सहज बोधगम्य शब्द हृदय को सीधा स्पर्श करने वाले हैं, क्योंकि उसमें व्याकरण के नियमों का विशेष ध्यान नहीं रखा जाता है। जिसमें शब्दों के तत्सम रूपों के उच्चारण में मुख जिहवा को अधिक श्रम करना पड़े। तद्‌भव शब्दों का अधिक प्रयोग आता है। क्षेत्रीय बोली में पुरूषावृत्ति अधिक पाई जाती है। जैसे 'बे कहा कहात' (वे क्या कहते हैं) वाक्य में शब्द अथवा अन्त्य वर्ण के उच्चारण पर बलाघात होता है। जबकि झांसी, जालौन, आदि स्थानों में इसे 'बे का कात' बोलेंगे। इसी प्रकार यहाँ द्वित्व वर्णो का प्रयोग अधिक होता है।

---

(1) J.A.S.B. vol XII - 'A Hinduvee dialect of Bundelkhand'

बुन्देलखण्ड में कोल भील, शबर, किरात, एवं द्रविड़ जातियाँ रही हैं।

बुन्देली भाषा के उद्‌गम के सम्बन्ध में डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा जी के मत विचारणीय है–

"डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा ने कन्नौजी बोली को ब्रजभाषा का अंग माना है और ब्रजभाषा को दक्षिणी उप बोली के रूप में ग्रहण किया है। वे लिखते हैं हिन्दी बोलियों में बुन्देली तो ब्रज के सबसे निकट है। वास्तव में बुन्देली को बज का दक्षिण रूप कहा जा सकता है। दोनों में अंतर शब्द–रचना की अपेक्षा ध्वनियों में अधिक हैं। वास्तव में बुन्देली को हिन्दी की अलग बोली न मानकर ब्रज की दक्षिणी उपबोली कहा जा सकता है।[1]

यह निश्चित होता है कि बुन्देली भाषा यमुना से नर्मदा की घाटी तक बोली जाती है। फिर भी किसी भाषा या बोली को एक निश्चित स्थूल सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता है।

'कोस–कोस पर पानी बदलें पांच कोस पर बानी'

–ये कहावत इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

---

(1) डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा– ब्रज भाषा पृ0 129

द्वितीय अध्याय

'बुन्देलखण्ड का लोकसंगीत'

संगीत का मानव जीवन से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोकसंगीत है। संगीत एक ऐसी नैसर्गिक कला है जिसमें स्वर है, लय है। मानव अपने भावों को संगीत के माध्यम से भी अभिव्यक्त करता है। जनसामान्य में तथा लोकजन में –संगीत से केवल गायन का अर्थ लगाया जाता है। जबकि वास्वत में 'संगीत' शब्द की उत्पत्ति 'गीत' शब्द में 'सम' उपसर्ग लगने से हुई है, जिसका अर्थ 'गायन के सहित' है। अर्थात् अंगभूत क्रियाओं के साथ हुआ कार्य संगीत है। गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों का समुच्चय ही संगीत है।

भारतीय संगीत के धरातल पर संगीत के दो रूप लोक–संगीत तथा शिष्ट या शास्त्रीय संगीत है। शास्त्रीय संगीत नियमों एवं मानदण्डों के अनुरूप होता है वहीं लोक–संगीत स्वतः स्फूर्त, प्रकृतितः होता है। पं0 कुमार गंधर्व जी कहते हैं– "शास्त्रोक्त संगीत में भावना को स्वरों में व्यक्त करने के लिए सम्पूर्ण शक्ति खर्च करनी पड़ती है,– परन्तु बहुत कम गायकों को भिन्न–भिन्न स्वरूपों को व्यक्त करने की कला हस्तगत हुई है, जबकि लोक गायक उसे सहज ही व्यक्त कर देते हैं,"(1) इसी क्रम में वे पुनः कहते है– "यदि शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति लोक संगीत अपने आप में पूर्ण होना चाहिए। लोकसंगीत का निर्माण स्वाभाविक है। इसको समझकर जब हम विश्लेषण करते है, तब वह लोक से हटकर 'शास्त्रीय' रूप धारण करता है" (2)

लोक जीवन के निर्माण और विकास में गायन के साथ–साथ नृत्य एवं वाद्यों का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। सामूहिक रूप से नाच गाना ग्रामों में बहुत प्रचलित है। लय–ताल दिखलाने वाले वाद्यों का ही ग्राम–गीतों के साथ अधिक उपयोग होता है, स्वतंत्र वादन का

---

(1) श्री कुमार गंधर्व : भारतीय संगीत का मूलाधार : लोकसंगीत सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति विशेषांक)पृ0 306

(2) वही .... पृ0 304

विकास लोकसंगीत में न के बराबर हुआ है।

लोक संगीत में सामूहिक रूप से गाने एवं नृत्य करने में स्वर की अपेक्षा लय का अधिक प्रभाव पड़ता है, और उसमें भी विशेष रूप से अवनद्ध एवं घन वाद्यों जैसे–ढोलक, नगड़िया, खंजड़ी, झांझ, करताल आदि। ढोलक वाद्य लोकसंगीत की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण है, कभी–2 ढोलक वादक तबले के बाज की तरह ही ढोलक पर भी पूर्ण विस्तार, विभिन्नता और चमत्कार करते दिखलाई पड़ते हैं। यद्यपि ढोलक पर केवल लय व सरल तालें ही दिखाना पर्याप्त हाता है जैसे–दादरा, कहरवा एवं दीपचन्दी (चांचर) एवं खेमटा। इन तालों के विभागों और ताली–खाली आदि में जो 'वजन' या 'लय की चाल' बनती है, वो बहुत ही सरल, सहज व आकर्षक होती हैं। मानव भावाभिव्यक्ति के लिए उपर्युक्त तालें पर्याप्त हैं।

लोकगीतों के रसानुकूल तालों का प्रयोग होता है। उल्लास, उत्साह, खुशी आदि के लिए 'कहरवा' उपयुक्त है। 'दादरा' भी प्रयोग करते है। श्रंगारिक गीतों में दादरा एवं खेमटा का प्रयोग दिखाई देता है। करूण एवं श्रंगार गीतों के लिए दीपचन्दी का विशेष प्रयोग करते हैं। चूंकि लोकगीतों में लय द्रुत रखते है अतः दीपचन्दी की लय विलम्बित न रख कर द्रुत कर देते हैं।

लोकगीतों में धुन छोटी होती है, लेकिन शब्दों का अर्थ विशाल होता है। अलग–2 अवसरों के अलग–2 गीत अपनी स्वर शब्दावली एवं स्वरावली के कारण व्यक्ति की आत्मा से जुड़ जाते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक के गीत स्वच्छन्द रूप से प्रकट होते हैं। व्यक्ति अपने समाज व मिट्टी से अनायास जुड़ जाता है। कहना न होगा कि लोकसंगीत व्यक्ति और समाज के सुख दुख का प्रतिविम्ब हैं। बुन्देली लोकगीतों को गाने बजाने के लिए ऋतुएं, अवसर, समय आदि उसी प्रकार निर्धारित है, जिस प्रकार राग–रागिनियों के गाने बजाने का समय काल।

जो समयानुसार उपयुक्त भी हैं और अच्छे भी लगते हैं। लोककवि 'ईसुरी' कहते है–

"भौतई बुरो लगत है 'ईसुर' बे औसर को बाजौ"

होली के अवसर पर फाग का आन्नद ही अलग होता है, भादौं की चौथ, देव चबूतरे पर, पूजा के अवसर पर ढांक के साथ गोटें गाई जाती हैं। इसका अलग ही महत्व होता है। इसी प्रकार बुन्देलखण्ड में कई गांवों में जहाँ 'बलि' का आयोजन होता है उस समय जो ध ुन बजती है उसमें वीभत्स रस एवं भावों का संचार होता है, जिससे व्यक्ति रोमांचित हो जाता है। 'आल्हा' आज भी बरसात में चौपालों से शहर के गलियारों तक बड़ी मस्ती व ओज से भरपूर गाया जाता, सुना जाता है।

बुन्देलखण्ड की रिसायतों का भी लोकसंगीत के क्षेंत्र में अभूतपूर्व योगदान है, दतिया, ओरछा, पन्ना, बिजावर, समथर, बिजना, टीकमगढ़, सागर आज भी अप्रतिम कला क्षेत्र माने जाते हैं दतिया की शासन परम्परा में महाराजा भवानी सिंह एक अद्वितीय उदाहरण रहे हैं, प्रसिद्ध पखावजी कुदुऊ सिंह की उंगलियां पखावज पर नृत्य करती हुई दिखाई देती थी। पखावज बजाते समय वे अपने दोनों हाथों से पखावज को ऊपर उछाल देते थे फिर 'सम' पर पखावज को पुनः अपने हाथों में ले लेते थे। ये दृश्य चमत्कृत कर देने वाला होता था। एक बार इन्होनें गज परन बजाकर मदमस्त हाथी को वश में कर लिया था।

बुन्देलखण्डी लोकनृत्य की परम्परा भी अति प्राचीन है। यहॉं के अधिकतर नृत्यों में श्रंगार की अपेक्षा वीरता की भावना अत्यधिक दिखाई देती है शायद यहॉं की मिट्टी की विशेषता है। बुन्देलखण्ड जातीय नृत्यों से भरा पड़ा है। दिवारी, बरेदी, कांडरा, ढिमरियाई, कहारा (अहीरी नृत्य) आदि।

'सांस्कृतिक स्वरूप'

संस्कृति शब्द का अर्थ है– सम्यक् कृति।

संस्कार या संस्करण का भावार्थ भी संस्कृति के अर्थ के अन्तर्गत आ जाता है। वैदिक– दर्शन, भारतीय–संस्कृति की पूर्णता को प्रकाशित करने वाला अखण्ड प्रदीप है।

दर्शन शास्त्रानुसार विज्ञान का केन्द्र ब्रह्म और ज्ञान का कारण जगत है। जगत के दो भेद माने जाते हैं : अन्तर्जगत और वाहय जगत्। शक्तिमान परमात्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न है। प्रधान शक्ति तीन हैं, ज्ञान शक्ति, क्रियाशक्ति, द्रव्यशक्ति। अनादिकाल से जगन्नियन्ता जगदीश्वर, जगत और जीव का जो घनिष्ठ संबंध चला आ रहा है, इसी संबध तत्व से संस्कृति का विकास है। जैसे–जैसे मानव अपने जीवन में जगत व्यापिनी ज्ञान–शक्ति का अनुभव और क्रियाशक्ति कार्य रूप में ग्रहण करता है, वैसे– वैसे जीवन का सांस्कृतिक विकास होता है।

बुन्देलखण्ड की भूमि आर्य सभ्यता के आगमन के पूर्व अनार्यकालीन संस्कृति के प्राचीनतम रूपों की क्रीड़ा भूमि रही है। भारतद्वाज, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों के आश्रम बुन्देलखंड के अन्तर्गत थे। आर्य और अनार्यों की संस्कृति का संगम–स्थल यही बुन्देलखण्ड रहा है। आज भी द्राविड़ संस्कृति के सरंक्षक कोल, भील, बैगा, गौंड़ तो अपने को रावणवंशीय मानते हैं।

अठारह पुराणों और महाभारत के रचयिता कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास की जन्मभूमि कल्पी थी, जिसका पौराणिक नाम कालप्रिय था। अनन्त विद्या के भंडार तपोनिधि पाराशर जी, वीर मित्रोदय वृहदकोष के रचयिता मित्रमिश्र, प्रबोध चन्द्रोदय के रचयिता पं0 कृष्णमिश्र एवं शीघ्रबोध के पं0 काशीनाथ मिश्र ने इसी भूमि को अलंकृत किया है।

बुन्देलखण्ड का कला– कौशल उच्च कोटि का रहा है। जवनपुर की रूपनाथ की चट्टानों पर अशोक की प्रशस्ति अंकित है। देवगढ़ और खजुराहों के मन्दिरों में शिल्पकला का उत्कृष्ट नमूना दिखाया गया है। एरन स्थित जयस्तंभ तथा बराहमूर्ति में प्राचीन शिलालेख खुदे

हुए हैं। ओरछा और दतिया के महलों में भित्तिचित्र में मुखछवि, रंगों का मिश्रण, पोशाक की चमक, वर्ण की सुन्दरता और भावों की स्वाभाविकता मिलती है।

यह पुण्यस्थली विद्वान कवियों एवं साहित्यिकारों की लीलाभूमि रही है, जिसकी गोद में पलकर आचार्यों एवं कवियों ने साहित्य सर्जन किया है। बुन्देली वीर–वीराणियों के वीरतापूर्ण कार्य भारत में ही नहीं सारे संसार में प्रसिद्ध हो गये हैं। यहॉ के वीर पुरूषों, आल्हा, ऊदल, मलखे– सुलखे, परमाल आदि के पराक्रमों से 'आल्हखंड' भरा हुआ है जिससे प्रत्येक अनपढ़ ग्रामीण भी भलीभांति परिचित है। यहाँ के लोकगीत में यह बात कही गई है–

"कहाँ धरी है करहा कटरिया, कहाँ धरी गेंडा की ढाल
कौनन ठगी–ठगी करहा कटरिया, घुल्लन टंगी गेड़ां की ढाल
कहाँ धरो सुरसी को बागौ, क़हां निरमौला पाग
जामधाने में धरो सुरसी को बागौ, ऊपर धरी निरमोला पाग।[1]

वीर बुन्देले जीते जी आत्म समर्पण करना लज्जा जनक मानते थे। राजपूत वीरांगनाऐं सतीत्व पर आँच आती देखकर शत्रुओं के हाथ में न पड़कर जौहर करना श्रेष्ठ समझती थीं और हँसते–हँसतें चिताग्नि में भस्म हो जाती थीं।

लोक संस्कृति तो लोक परम्पराओं में लोक साहित्य, लोक नाटय् लोक–कला, लोककथा, लोकगीत में सहज आत्मीयता के साथ उल्लसित है। जन कल्याण की भावना से आपूरित लोक–संस्कृति ने सदैव लोकधर्म के माध्यम से ही अनुभूति और यथार्थ को अभिव्यक्ति दी है। ऐसा अनुमान है कि जब से लोक का सृजन हुआ है तभी से लोकगीतों का भी प्रचलन हुआ है।

---

(1) बुन्देली लोकगीत भाग 2 डा0 रामस्वरूप श्रीवास्तव 'स्नेही' पृष्ठ (337) क्र0– 143

यहाँ की मूर्तियों में भी यहाँ की संस्कृति झलकती है। बुन्देलकालीन किले, मन्दिर, महल, तालाब तथा स्मारक, ग्वालियर से रीवां तक स्थान 2 पर मिलते हैं। भरहुत, नंचना, बाधोगढ़, अजयगढ़ मंडखेरा , सिलहरा आदि स्थान शिल्प शास्त्र के कीर्तिस्थल हैं। पुरानी चित्रकारी में मुख छबि रंगों का मिश्रण, पोशाक की चमक, वर्ण की सुन्दरता, और भावों की स्वाभाविकता मिलती है।

देखा जाय तो लोक–कला मानव को उसकी जमीन से जोड़कर रखती है, जिसके माध्यम से वह काफी सीमा तक आधुनिक चिन्ताओं और समस्याओं से मुक्त रहता है। लोक कला सहजता और आध्यात्मिकता से संपृक्त होती है। वस्तुतः लोक कला ही शास्त्रीय कला की जननी है। यदि लोक–कलाओं की आत्मा सुरक्षित रखी जा सके तो लोक– कलाओं का बदलाव स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। और ऐसे बदलाव को विकास कहेंगे। श्री जीवन यदु के शब्दों में – "कला किसी एक व्यक्ति का नही, वरण समूचे समाज का 'आत्मबोध' है। और सिर्फ 'आत्मबोध' ही नही वरण 'आत्म– प्रकाशन' भी है। उनसे हमारी चिन्ताएँ, समस्याएं सम्प्रेषित होती हैं, भले ही वे बहुत स्थूलता के साथ हों। लोक–कलाओं से लोक–जीवन की अभिव्यक्ति होती है। चूंकि लोक–कलाएं, बद्ध–कलाएं नही हैं, अतः उनसे सम्प्रेषित चिन्ताएं और समस्याएं भी युगीन होती हैं। यदि लोक–कलाओं में आए परिवर्तन का अध्ययन करें, तो विभिन्न कालों की चिन्ताओं, समस्याओं से हमारा साक्षात्कार हो सकता है। लोक–कलाएं भी अन्य कलाओं की तरह युगीन जीवन को जज्ब करती हैं और प्रतिक्रियाएं सम्प्रेषित करती हैं। उदाहरण के तौर पर छत्तीसगढ़ के 'नाच' या 'नाचा' को ले सकते हैं, जिसके कलाकार जीवन की समस्याओं को 'हास्य–व्यंग्य' और हाजिर–जवाबी के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। [1]

भारतीय लोक–संस्कृति का सच्चा प्रतिरूप होने के कारण 'तुलसी की चौपाइयां

---

(1) 'जीवन यदु' परिचर्चा,संयोजक : रमाकान्त श्रीवास्वतव "लोक संस्कृति आयाम एवं परिप्रेक्ष्य' महावीर अग्रवाल से उद्धृत पृ0 163

'सूर' और 'कबीर' के पद ऐसे लोगो के होठों में बस गए हैं, जिन्हें अक्षर ज्ञान भी नहीं है।

लोक–मानस की एक–एक रेख, सुख–दुख, हास–परिहास, विजय–पराजय के इतिहास के दर्शन लोकगीतों में मिलते हैं। दया धर्म, विश्वास, आस्था, कर्मण्यता, सौजन्यता, दयालुता, शालीनता, परोपकारिता आदि लोक–संस्कृति के मूल तत्व ग्रामीण साहित्य के प्राण हैं।

लोक–संस्कृति के सहज चित्र लोकगीतों में प्राप्त होते हैं। अनेक शैली, बोली भाषा में गाए गीत एक ही लोक–संस्कृति का शाश्वत रूप प्रस्तुत करते हैं। भिन्न–भिन्न प्रदेश के लोकगीत स्वयं में एक ही संस्कृति को समाहित किये हैं। लोकगीत सांस्कृतिक एकता के सहज माध्यम हैं। सभी अँचलों के लोकगीतों में संस्कारों की एकरूपता है, एक से मानवीय रिश्तों की व्यंजना है और लोक कल्याण का एक ही लक्ष्य है।

चित्रकला की दृष्टि से तो बुन्देलखंड का बड़ा ही गौरवपूर्ण अतीत है। चित्रकला के विकास में तो बुन्देलखण्ड ने एक प्रकार से मानव सभ्यता के विकास की ही परम्परा अपनायी है।

बुन्देली चित्र शैली के प्रमुखतः कुछ प्रसिद्ध गढ़ रहे हैं। जैसे ओरछा, झांसी, दतिया, पन्ना। ओरछा में बुन्देली चित्रकला की पराकाष्ठा के दर्शन महाराज वीरसिंह प्रथम द्वारा निर्मित एक ऊँचे स्थल पर स्थित लक्ष्मी जी का मन्दिर है। इस मन्दिर की निर्माण शैली में जितनी कौतूहलता है उससे कंही अधिक इस मंदिर की भित्तियों पर चित्रित चित्रकला में हृदय–ग्राह्यता है। मंदिर की चित्रित यह चित्रकला पृथ्वीसिंह (1736–1752) की कलाप्रियता की दुहाई देती है।

'शास्त्र' ने सदा 'लोक' से ही प्रेरणा ली है ओर 'लोक' को 'शास्त्र' में प्रतिष्ठा मिली है।

लोक कला के विभिन्न कलारूपों की सीमाएँ अनन्त हैं। इन कलारूपों में जीवन

की गति और आनन्द है।

"बुन्देलखण्ड के भाग में राधा बल्लभी सम्प्रदाय के अनेक मंदिर हैं। मान्यता है कि सांझी सजाने से श्रीकृष्ण भगवान प्रसन्न होते हैं। और वे मनवांछित फल प्रदान करते हैं। सांझी उत्सव के समय गाये जाने वाले गीतों का संकलन राधा बल्लभी सम्प्रदाय की वाणियों में है।"[1]

सांझी परम्परागत लोकचित्र शैली का रंगारंग कलारूप है। सांझी की परम्परा बुन्देलखण्ड के केवल दतिया जिले में ही प्रचलित थी। इसके पीछे मान्यता यह है कि श्राद्धपक्ष में हरियाली हो जाने के कारण श्रीकृष्ण जंगल में गायें चराने जाते थे, और संध्या समय वह जंगल से वापिस लौटते थे। उनके लौटने के मार्ग पर गोपकिाएँ राधा के साथ फूल–पत्तियाँ बिछा देती थीं। धीरे–धीरे इस परम्परा ने लोकमान्यता का रूप ले लिया और मंदिरों में तथा घरों में श्रीकृष्ण से सम्बंधित लीलाओं का चित्रांकन अनाम चित्रकारों ने करना शुरू कर दिया। इस कलारूप का नाम सॉझी पड़ा। अंकित की जाने वाली प्रमुख लीलाएँ हैं– महारास, माखनचोरी, पूतना वध, बकासुर वध, चीरहरण और कमल के फूल के अन्दर राधा– कृष्ण की नृत्यमुद्रा । ये झांकियाँ बेलबूटों के अलंकरण के अन्दर बनाई जाती थीं।

सांझी ब्रज की मान्य परम्पराओं को अपने में सहेजे हुये है। बुन्देलखण्ड के भाग दतिया में आकर यहाँ की लोक–परम्पराओं को आत्मसात कर अपने कलारूप को बुन्देलखण्डी लोकचित्र शैली का प्रकार देती है।

लोकगीतों को रंग–बिरंग के सबसे अधिक और मधुर छन्द प्रकृति ने ही दिये हैं।

---

(1) श्री राधावल्लभ जी का वर्षोत्सव (सम्पाललित चरण गोस्वामी सन् 1979, हरिप्रेस वृन्दावन से प्रकाशित) पृ0 479–522

लोकगीत सदैव लोक जीवन–सापेक्ष होते हैं। यह विशेषता ही उनका मूल प्रयोजन है। वे जीवन की सभी स्थितियों से जुड़े होते हैं। उनमें एक ऐसी रसात्मकता होती है, जिसके कारण अपने दुःखद क्षणों में भी आदमी बड़ी मस्ती से उन्हें ललकार कर गाता हैं। लोकगीत ओर लोकसाहित्य में मन की उत्फुल्लता, आशा, उत्साह और आस्था के आवेग उतराते रहते हैं, जिनसे पारिवारिक सामाजिक और राष्ट्रीय जुड़ाव के रिश्ते बनते हैं। लोकगीत में व्यक्त संस्कार, उत्सव, रीति–रिवाज, लोकमूल्य आदि व्यक्ति को व्यक्ति से बॉधते हैं।

भारतीय जीवन लोक और वेद से समन्वित तथा संबंधित है। फलतः सांस्कृतिक धरातल पर भी इसके दो रूप दिखाई पड़ते हैं– लोक संस्कृति तथा अभिजात संस्कृति। लोक संस्कृति का सीधा जुड़ाव व्यापक जन समुदाय से होता है और उसमें वहाँ की आंचलिक विशेषताएं तथा मॉटी की सुगन्ध की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। लोक प्रचलित कलाएं, भाषा प्रयोग की दिशाएं धार्मिक अनुष्ठान, रीति–रिवाज, आचार विचार व्रत–त्यौहार, संस्कार तथा सामाजिक उत्सव, उद्योग धन्धे, वस्त्रालंकार, सामाजिक रूढ़ियों लोक विश्वास तथा मान्यताएं आदि लोक–संस्कृति के तात्विक पक्ष हैं। अर्थात् संस्कृति और जीवन का संबंध परस्पर में पूरक है।

लोक– संस्कृति का शुद्ध रूप ग्राम्यांचलों में दिखाई पड़ता है। लोक–जीवन ध र्माधारित होता है। बुन्देली जन जीवन भी व्रत–त्यौहार पूजा उपासना से संकलित है। बुन्देलखण्ड में कुछ ऐसे भी व्रत तथा त्यौहार हर्षोल्लास से मनाए जाते हैं, जो अन्यत्र कदाचित् ही दिखाई देते हैं। इनमें सीता जन्म, शंकर विवाह, राधा–जन्म आदि हैं।

बुन्देलखण्ड का पहनावा सादा है। पुरूष धोती, साफा, टोपी, फतूमी, सलूका, लंगोटा, जाँघियां पंछा, मिरजई अंगरखा तथा गाँवों में सराई, पनैया, पहनते हैं। स्त्रियां लहंगा,

पोलका, धोती, घंघरियां, ब्लाउज, चुनरिया, पिछोरा, ओढ़नी, चोली तथा पॉव में पनैया, खनाऊ पनैया आदि पहनती हैं।

आभूषण स्त्रियों की सबसे प्रिय वस्तु है। यहाँ की स्त्रियॉ मॉथे पर बेंदा, बीज, शीशफूल, कान में कर्णफूल (तरकुला) नाक में नथनी, बाली, पुंगरिया, लौंग, बुल्लाक, गले में – खगोरिया, तिदानों, हमेल मटरमाला, मंगलसूत्र, लर, कमर में –करधौनी, कमरपट्टा, कलाई में ककना, बंगरी, नोंगटें, चूरा, बेलचूड़ी, गजरा, पटेली, बाँह में बॉके, बाजूबन्द, बोटा तथा पॉव मे बिछिया, मछरिया, छल्ली, टोडर, रूले, पैजने, लच्छा, पायलें आदि पहनती हैं। स्त्रियॉ अपना श्रृंगार सिन्दूर, ईंगुर, बूंदा, टिकली, काजली, सुरमा तथा हाथों और पांवों में मेंहदी और महावर लगाकर करती हैं।

यहाँ की राजपूत वीरांगनाएँ सतीत्व पर आँच आती देखकर शत्रुओं के हाथ में न पड़कर जौहर करना श्रेष्ठ समझती थी और हॅसतें–हॅसते चिताग्नि में भस्म हो जाती थीं।

प्रातःकाल बुन्देली स्त्रियॉ कुॅआ या बावड़ी पर जल भरने चल देती हैं उस समय का मनोरम दृश्य एक गीत में अंकित किया गया है–

डिवीजन रेल का निराला

किला बना बुन्देलखण्ड वाला

किले के नीचे है पचकुइयां

जाती जल भरने को गुइयां [1]

बुन्देलखण्ड के रीतिरिवाज में यहाँ बाल–विवाह की अधिक प्रथा है। यहॉ के हिन्दू मुसलमान आपस में पूर्ण एकता से रहते हैं और एक दूसरे के धर्मोत्सवों को मिलजुलकर मनाते हैं।

---

(1) बुन्देली लोकगीत भाग 2 डॉ0 रामस्वरूप श्रीवास्तव पृष्ठ 337 क्र0 143

यहॉ के सवर्ण हिन्दुओं में स्त्री का विवाह एक बार ही होता है। पति की मृत्यु होने पर पुनर्विवाह का कोई विधान नही है। विधवा को अपशकुन सूचक माना जाता है। पुरूष स्त्री की मृत्यु पर दूसरा विवाह कर सकता है।

बुन्देलखण्ड के स्त्री पुरूष धर्म परायण व्यक्ति हैं। अधिकांश लोग शक्ति उपासक हैं। आज भी बुन्देलखण्ड के घर–घर में देवी माता की पूजा प्रमुख स्थान रखती है। लोग नवदुर्गा में शतचंडी, सहस्त्रचंडी का पाठ करते कराते हैं। रामायण, महाभारत, भागवत में विशेष आस्था रखते हैं।

भारतीय स्त्रियां अन्य देशों की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक व्रत उपवास करती हैं। ग्रामीण स्त्रियॉ अधिक धार्मिक भावना की होती हैं। देवी देवताओं पर उनकी अटूट श्रद्धा होती है। यही कारण है कि यहॉ की स्त्रियॉ वर्ष भर में कई बार व्रत उपवास करती हैं।

धर्म भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। मनुष्य का नैतिक जीवन धर्माधारित है। बुन्देलखण्ड के जन जीवन में तीर्थ–व्रत, पूजा–उपासना, त्यौहार–मेलों की भरमार है। उनके तैंतीस करोड़ देवी–देवता हैं। प्रतिपदा से अमावस्या व पूर्णिमा तथा चन्द्रवार से रविवार सभी तिथि–वार किसी– न किसी देवी देवता से संबंधित हैं। अर्थात वर्ष में तीन सौ पैसठों दिन व्रत–उपासना वाले हैं।

इन व्रत–त्यौहारों पूजा–उपासनाओं के जैसे अलग–अलग लोक स्वीकृत विधि–विधान हैं, वैसे ही इनके अलग–अलग लोकगीत भी हैं। इन्हीं लोकगीत रूपी मंत्रों, परम्परागत लौकिक रीतियों–नीतियों से वे व्रत–त्यौहारों को करतीं तथा उनमें अन्तर्भूत फलितार्थ को अपने अखण्ड विश्वास से प्राप्त करती हैं। इन व्रतों उपासनाओं के महात्म्य संबंधित कथा--कहानियों को यहाँ कहने–सुनने की प्रचलित परम्परा है। यहॉ के तीज–त्यौहार में गनगौर,

रामनवमी, अखतीज, कजरिया तीज, रक्षाबन्धन, जन्माष्टमी, शारदीय नवरात्र, मकरसंक्रान्ति दीपावली, कार्तिक पूर्णिमा (कतिकी पूनो) शिव–रात्रि, नौ–दुर्गा, (देवीमाता) होली, आदि का स्थान महत्वपूर्ण है।

किसी देश के सुखी और समृद्ध जीवन का अनुमान उसके द्वारा मनाये जाने वाले त्यौहारों और उत्सवों से लगाया जा सकता है। इस देश में राम और कृष्ण के उपासक बहुत मिलते हैं परन्तु अन्य धर्मों और विश्वासों की छाया भी स्पष्ट दिखाई देती है। शिव–चौदस, नौ दुर्गा, गनगौर, नागपंचमी, वटपूजा आदि के त्यौहरो में शैव, शक्ति एवं विधि देवी देवता, सर्प और वृक्ष आदि के पूजक मतावलम्बियों का प्रभाव स्पष्ट है। इन उत्सवों में रोचकता और सफलता लाने के लिये लोकगीतों की आवश्यकता होती है। स्त्रियॉ राम और कृष्ण की स्तुति सम्बन्धी गीत गाती हैं।

महाराज रघुराजसिंह के काल में संगीत कला भारत में चरम सीमा पर थी। तानसेन और मधुरअली जैसे संगीतज्ञों ने इस प्रदेश को गौरव प्रदान किया है। किंवदन्ती है कि कुदौसिंह ने एक ऐसे मस्त हाथी को, जो उस पर छोड़ा गया था, गजपर्ण पखावज बजाकर अपने वश में कर लिया था। यहाँ के लोकगीतों में रागपीलू, राग देश आदि राग पाये जाते हैं।

देश के विभिन्न क्षेत्रों के समान ही बुन्देलखण्डी भूमि का मानस धरातल भावों की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठत है। यहॉ धार्मिक व्रत त्यौहार और उनसे सम्बन्धित लौकिक अभिचार तथा कथाऍ बालक और बालिकाओं के खेल तथा खेलगीत, स्त्रियों द्वारा संस्कारों की औपचारिकता तथा तत्सम्बन्धी गीत, सामाजिक रीतियॉ, लौकिक विश्वासों की रूढ़िवादिता, स्त्री पुरूषों की पारस्परिक वासनात्मक अभिव्यक्ति, कौटुम्बिक स्नेह एवं विद्वेष की प्रकृत भावनाऍ भारतीय लोक–साहित्य में समान रूप से उद्भाषित हुई हैं।

इस संबंध में रवीन्द्र नाथ ठाकुर के विचार पठनीय है ''यदि सब देशों के गीत संकलित किये

जा सकें और उनका तुलनात्मक अध्ययन हो, तो यह प्रत्यक्ष होगा कि उनमें एक ही मन और एक ही हृदय छिपा है, जो मनुष्य मात्र में सामान्य है''[1]

यहाँ की लोकवाणी में क्षेत्रीय रीति–नीति, संस्कार, धार्मिक भावनाऍ एवं विश्वास बोल उठते हैं। छत्रसाल, बुन्देले और रानी लक्ष्मीबाई की यश प्रशस्ति को लोक कवि भूल नहीं पाया है। इस तरह से राष्ट्रीय विचार धारा का प्रभाव लोकगीतों से अछूता नहीं रह सका है।

यहॉ के लोग विभिन्न देवी–देवताओं की मान्यता करते रहे हैं। सम्पूर्ण रामायण की कथा महाभारत एवं अन्यान्न पुराणों की गाथाऍ भजनों के माध्यम से जन–जन में प्रचलित है। तीज–त्यौहार पर कबीरपंथी निर्गुणी भजन बड़े भक्ति भाव से गाते हैं। इस सगुण एवं निर्गुण भक्ति के अधिकांश भजनों में 'तुलसीदास आस रघुवर की' तथा 'कहै कबीर सुनो भई साधो', की अंतिम टेक लगाई जाती है। गॉव–गॉव में जोगी, गोपीचंद भरथरी के वैराग्यपूर्ण गीत अपनी सारंगी और तम्बूरा के मधुर स्वर में गाते हुए पाये जाते हैं। वेद, उपनिषद, एवं धार्मिक व्रतों की मान्यता बुन्देलखण्ड के घर–घर में है। पौराणिक आख्यानों के जटिल दार्शनिक तत्व सरल गाथाओं में गुंथकर ग्रामीण जीवन में व्याप्त हो गये हैं। मानव जीवन के लौकिक सुख एवं पारलौकिक मोक्ष के तत्व धार्मिक गाथाओं में सहज प्राप्त हैं।

यहॉ के गॉवों में अनेक देवी–देवताओं की पूजा प्रचलित है। पर इनको हम

---

(1) And if the folksongs of all the countries could be collected and compaired, it would be seen that these was one mind and one heart underlying there common to all mankind- Tagore (Modern Review Sept 1934

ग्राम–देवता के नाम से जानते हैं। इन ग्राम–देवता की पूजा राम, कृष्ण, और शंकर से कहीं अधिक ग्रामीण जनता करती है। इन ग्राम देवताओं के कोई मन्दिर नहीं होते हैं। किसी छोटी सी मढ़िया में अथवा किसी वृक्ष के नीचे चबूतरे पर इनकी स्थापना की जाती है। कुछ लोग अपने कुल देवता का छोटा सा चबूतरा या तो अपने घर के पास अथवा अपने खेत या बगीचे में बनाते हैं। यहॉ के ग्राम देवी–देवताएॅ :– घटौटिया देव, नट बाबा, मसान, पीरबाबा, भुइयां बाबा, भैरव बाबा, हरदौल, मरही देवी, शीतला देवी, चिककुटिहाई आदि देवी–देवताओं की मान्यता है। इन देवी–देवताओं के गीत बैसाख तथा अगहन मास की अमावस्या को रात्रि जागरण कर गाये जाते हैं।

बुन्देली लोक समाज, गीतों, कथाओं और लोक नाट्यों के अतिरिक्त मनोरंजनात्मक बुद्धिपरक ज्ञान की सूक्तियों को सुरक्षित रखे हुये है। यहाँ के पर्व और मेलों में– चना और चूरन बेचने वाले अपने 'लटके' दीर्घ स्वरों में गाकर बालकों को आकृष्ट कर लेते हैं, और साथ ही युवक भी परिहासमयी तुकबन्दी सुनकर रस ग्रहण करते हैं।

इसके अलावा कंजर लोग एक बिजोरी कारूणिक भाव में मर्सिया की धुन पर गाते हैं। 'बिजोरी' डोरी पर नाचने का खेल है और कंजर लोग इस बिजोरी को बहुत ही भाव से प्रकट करते हैं।

''लोक संस्कृति की प्रकृति सदैव वही रहती है, जो है। अपने मूल स्वभाव में लोक संस्कृति सदैव सामान्य बनी रहती है। जन सामान्य के वर्तमान आचरण की मनोभूमि के संस्कारों को भी समेटती अपने स्वयं को आगे भी रचती रहती है, गतिशील रहती है। [1]

वास्तविकता यह है कि लोक जीवन और लोक संस्कृति दोनों लोक साहित्य और

---

(1) लोकगीतों का सांस्कृतिक सन्दर्भ–डा0 हर्ष नारायण नीरव चौमासा–पृ0सं0–अंक–37 मार्च 95 जून 95

उसकी जीवित परम्परा में ही अभिव्यक्त हैं, निरन्तर हैं, मुखर हैं, स्पन्दित हैं, गतिशील हैं, प्रत्यक्ष हैं और अपनी ऐतिहासिकता में प्रस्तुत हैं।

सांगीतिक–स्वरूप

लोकगीत लोक के हैं, अतः उनमें लोक विषय की ही तरह उनकी रचना और भाषा–शिल्प भी लोक प्रकृति का ही है। लोकगीतों का रचना–शिल्प और भाषा (जो मूलतः लोक बोली है) बिल्कुल सहज सामान्य लोक जीवन की अवश्य है किन्तु उनकी अभिव्यक्ति क्षमता में अदभुत व्यंजना–शक्ति, बेजोड़ प्रतीक और बिम्ब–विधान एवं सहज अलंकारिता होती है।

लोकगीत, लोकगाथा, लोक कथाएं, लोकोक्ति, साहित्य लोक चिन्तन के प्रमुख संवाहक हैं। ''बुन्देलखण्ड में लोक साहित्य के प्रति अभिरूचि उत्पन्न करने का सर्वप्रथम प्रयास श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने किया। उन्होंने 'मधुकर' मासिक पत्र कुन्डेश्वर टीकमगढ़ से अक्टूबर 1940 में निकाला, जिसमें बुन्देलखण्ड की संस्कृति एवं लोक साहित्य सम्बन्धी सामग्री की प्रचुरता पाई जाती है। इसके पश्चात् पंडित जी के प्रेरणा और प्रयास से टीकमगढ़ में 'लोकवार्ता परिषद' की स्थापना सन 1944 में हुई। श्री कृष्णानन्द गुप्त ने लोकवार्ता की सम्पादकीय में पनवाड़ी (हमीरपुर) के श्री बारेलाल जी का नाम दिया है। जिन्होंने ईसुरी, ख्यालीराम और भुजबल आदि लोक कवियों की फागें इकट्ठी करने का कार्य किया है और जो 200 फागें प्राप्त कर सके हैं। उसमें श्री गणेशी –लालजी राठ द्वारा बालकों के खेल के संग्रह कार्य तथा श्री भगवान दासजी कानूनगो ओरछा के कुचबंदियों और बेड़ियों के जीवन की छानबीन का जिक्र हुआ है''[1]

इन लेखकों ने बुन्देली लोकगीत, रीति रिवाज, कहानियाँ ग्राम देवता आदि विभिन्न विषयों की संकलित सामग्री तथा विवेचनात्मक लेख लिखे हैं। उक्त पत्रिका कुछ अंक

---

(1) लोकवार्ता दिसम्बर 1944, पृष्ठ 215

निकालने के पश्चात बंद हो गई। इसके अलावा श्री ''गौरी शंकर द्विवेदी जी ने ''प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ में बुन्देलखंडी लोकगीतों का संग्रह तथा व्याख्या दी है'' ।[1] इन्होंने लगभग 500 कहावतों का संग्रह किया है। इन्होंने बुन्देल वैभव तथा सुकवि सरोज में बुन्देलीखंडी कवियों की रचनाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है और 'ईसुरी प्रकाश' प्रथम भाग प्रकाशित की है।

श्री गौरी शंकर द्विवेदी ने बुन्देलखण्ड के लोकगीतों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया।[2]

(1) सैरे – ये आषाढ़ मास से लेकर श्रावण मास के अंत तक गाये जाते हैं।

(2) राछरे – ये ज्येष्ठ से श्रावण तक गाये जाते हैं।

(3) मलारे और सावन – ये श्रावण और भाद्रपद में गाई जाती हैं।

(4) बिलवारी और दिवारी – ये क्वांर और कार्तिक में गाई जाती हैं।

(5) बाबा के या भोला के गीत – ये संक्रान्ति आदि तीर्थ यात्रा के अवसर पर गाये जाते हैं।

(6) फागें और लेंदे – मास फागुन में गाई जाती हैं।

(7) गारी – विवाहादि अवसरों पर गाई जाती हैं।

इनके अतिरिक्त घास काटते समय, मजदूरी करते समय, चक्की पीसते समय इत्यादि अनेक अवसरों पर भिन्न–भिन्न तरह के गीत, भजन, दादरे आदि गाये जाते हैं।

गीतों में लोकाचारों का लेखा मिलता है। संस्कारों का हिन्दू जाति में धार्मिक महत्व है। भारतीय जीवन में मनुष्य इष्ट के पूर्ण एवं अनिष्ट के निवारण हेतु सदा से अपने धार्मिक विश्वास के कारण कुछ कार्य विधान करता आया है। इनमें मनुष्य की सभ्यता का इतिहास छिपा

---

(1) प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ 607, 614

(2) 'मधुकर' 1 सितम्बर 1942

हुआ है। और इनके कारण सांस्कृतिक एकता का सूत्रपात होता है।

बुन्देलखण्ड में सावन और भाद्रपक्ष में पुरूषों के लोकगीतों में सैरों ने बड़ा महत्वपूर्ण स्थान पाया है।

सैरा :-

इस नृत्य में 10 वर्ष से लेकर 45 वर्ष तक की आयु के 10 से लेकर 22 तक सदस्य इसमें शामिल होते हैं। प्रत्येक नृत्यकार के हाथ में 2 से 2½ फुट लम्बी खैर या शीशम की लकड़ी होती है। इसे दाहिने हाथ में रखा जाता है। वृत्ताकार खड़े नर्तक पहले 'हो हो रे " की टेक पर सैरा गीत शुरू करते हैं। सैरा गीत वृत्त के बीच में खड़ी गायकों एवं वादकों की मंडली शुरू करती है। साथ ही नृत्य आरंभ हो जाता है। इन गीतों में श्रृंगार की झांकी एवं गोपी कृष्ण का वियोग वर्णन मिलता है। ढोलक –मृंदग और गीत की लय पर आगे–पीछे झुकते हुए नर्तक एक दूसरे से लकड़ी टकराते हुए नाचते हैं। लकड़ी की चट–चट आवाज एक अलग धुन पैदा करती है। ढोलक, नगड़िया, टिमकी लोटा चटकोरा, ढपला एवं बाँसुरी वाद्य मुख्य रहते हैं। मंजीरा, चटकारे मृदंग और लकड़ियाँ मिलकर एक मोहक संगीत पैदा करती हैं।

साहुन सुहाने रे

साहुन सुहाने अरे मुरली बजी हो

भादौं सुहारी मोर

तिरिया सुहावन अरे जब हीं लगे

अरे खेलें पौर के दौर

सैर छंद में चार चरण और बाइस मात्राएं होती हैं, तथा बारह और दस मात्राओं पर यति होती है। ये सैरे आज भी विदिशा, सागर, छतरपुर, झांसी, मऊरानीपुर आदि नगरों में प्रचलित हैं। कहा जाता है कि ये सैरा गीत बुन्देलखण्ड की वीर गाथाएं लेकर चलते हैं।

राछरे :–

वर्षा ऋतु में लम्बे वर्णनात्मक गीतों में राछरें बहुत प्रसिद्ध हैं। इसे बुन्देली भाषा में राछौ या " राछरौ" कहते हैं। जान पड़ता है इसकी उत्पत्ति रासो शब्द से हुई है यह शब्द लड़ाई – झगड़े के लिए प्रयुक्त होता है।

ये राछरे पुरूष गीत भी हैं, परन्तु मुख्यतः ये स्त्रीगीत हैं। राछरें गीत झूला–झूलते हुए अथवा चक्की पीसते समय भी गाये जाते हैं।

आउत देखो बारी ननदी को डोला

डोला अरी भौजी ने हन लए किबार

सुनियो ननद भौजाई को राछरो

बुन्देलखण्ड में 'अमानसिंह का राछरा' बड़ा लोकप्रिय है। ये सावन के गीत होते हैं। सावन मास में सब स्त्रियाँ झूला झूल रही हैं और तब मॉ पुत्री को लिवा लाने के लिए पुत्र अमानसिंह से आग्रह करती है, कि हर रोज सावन नही आता वर्ष में केवल एक बार आता है और राजा बार–बार युद्ध का आवाहन नहीं करता, वह तो एक बार ही में जय पराजय का निर्णय कर लाता है। इसलिए तुम्हारी बहिन परदेस में बिसूर बिसूर कर रो रही है उसको अवश्य लिवा लाओ। और पुत्र अमानसिंह अपनी मॉ की बात मानते हुए अपनी बहिन को बुलाकर उसका भली–भाँति आदर सम्मान करता है।

इस प्रकार इन राछरौं में भाई के लिए प्रयुक्त वीर या वीर रस शब्द की सार्थकता विचारणीय है। बहिन अपने भाई को शूरवीर रक्षक के रूप में मानती है। अतः यह कहना गलत न होगा कि राछरों ने बुन्देलखण्ड में बड़ी सर्वप्रियता प्राप्त की है।

सावन :–

श्रावण मास लगते ही कुमारियों के टोल के टोल घरों में, बाग, बगीचों में झूले

डाल लेते हैं, और सुमधुर कंठ से निसृत स्वर आस पास के वातावरण को आनन्दसिक्त कर देते हैं। एक गीत में मनिहार (चूड़ीवाला) गलियों में चूड़ियां बेचता फिरता है, और स्त्री उसे बुलाकर चूड़ियाँ पहनती है। चूड़ी पहनते समय वह मनिहार से कहती है कि–

हरी तो जंगाली मनिहार ना पैरौ,

हरे हैं राजा जी के बाग, महाराजा जी के बाग

चूड़ौ तो मेरी जान, चूड़ौ तो हाती दांत कौ

पीरो रे जंगाली मनिहार, ना पैरों,

पीरे हैं राजाजी के वस्त्र, महाराजा जी के वस्त्र

चूड़ो तो मेरी जान, चूड़ो तो हाती दाँत कौ।[1]

इस तरह वह मनिहार विविध रंग की चूड़ियाँ दिखलाता है परन्तु स्त्री उन रंगों को पति की वस्तुओं से मिलता पाकर अस्वीकार कर देती है।

बुन्देलखण्ड में एक सावनगीत में लड़की अपने पिता से परदेस न व्याहने की प्रार्थना करती है–

द्वारे के इटियाँ न दइयो मेरे बाबुल

बिटियाँ न दइयो परदेस।

द्वार की इटियाँ खिसक जैहैं बाबुल

बिटियाँ बिसूरें परदेस [2]

कहते हैं दरवाजे की ईंट, दरवाजा बार–बार खोलने और बंद करने से खिसक जाती है

---

(1) बुन्देली लोकगीत भाग–2 –डॉ0 रामस्वरूप श्रीवास्तव क्रमांक–206

(1) बुन्देली लोकगीत भाग–2 –डॉ0 रामस्वरूप श्रीवास्तव क्रमांक–130

उसका विशेष अस्तित्व नही है, क्योंकि वह कभी भी गिरकर अलग हो सकती है। उसी प्रकार परदेसिन लड़की समय पर बाप, भाई के लिवाने न पहुँचने पर विसूर–विसूर कर रोती है। कितना दुःखद प्रसंग है।

श्रावण मास के घुमड़ते हुये मेघ, कूँजते हुये पक्षी, शीतल मंद सुगंधित समीर, ध ीर वीर संयमी को विचलित कर देते है। तो सामान्य जन के हृदय में प्रणय हिलोरे उठना आश्चर्य नहीं।

श्रावण मास के गीतों में विनोद भाव प्रधान रूप से झलकता है। इन सावन गीतों की यह विशेषता है कि स्त्रियों की स्वर–लहरी झूले के पेंग के साथ घटती बढ़ती चलती है। ये सावन के गीत बड़े ही सरस एवं कर्णप्रिय होते हैं।

इन गीतों में पति–पत्नी के संयोग–वियोग, उनकी विरह–व्यथा, भाई–बहिन का प्रेम, ननद–भावज की कटुता तो कहीं–कहीं स्नेहपूर्ण व्यवहार का उल्लेख मिलता हैं।

बिलवारी :–

अगहन में ज्वार की फसल काटते समय स्त्रियाँ सामूहिक स्वर में गाती है यह बिलवारी गीत कहलाते हैं।

चैत की तपती गर्मी में सारा दिन कठिन श्रम करने के बाबजूद काटने वाली के इन बिलवारी गीतों में परिहास युक्त उल्हना से श्रम की थकान नही वरण गीत की ताजगी झलकती है।

श्रम जीवन है, जीविका है इसको चरितार्थ करती ग्रामीण स्त्रियाँ कड़कती धूप व कठिन श्रम की परवाह न करते हुये अपने पति के कन्धे से कन्धा मिलाकर खेत खलिहानों में काम करती हैं।

चैत में खेत की कटाई हो रही है दिन डूब जाने के बाद भी किसान काटने वालों को नही छोड़ता और लम्बी कतार काटने के लिए दे देता है। अपनी इस विपदा को वो निम्न गीत में प्रस्तुत कर रही है।

दिन डूबे सें धरा दई लम्बी माँग, किसान भइया
बेरा तो भई है घार जाबे की
घालों–घालो धरम के दो–दो हाथ
कठोइरा ने पीर न जानीं मोरे जियरा की

– संकलित

भजन :–

लोकगीत में जनता की धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति भी पाई जाती है। इन ध ार्मिक एवं ज्ञान विषयक गीतों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–

(1) सगुणोपासना सम्बन्धी एवं

(2) निर्गुन गीत

सगुण गीतों में राम सीता, राधा कृष्ण, शिवपार्वती, सूर्य, शीतला, गंगा, तुलसी, दुर्गा, विष्णु आदि देवी–देवताओं की महिमा और उनकी भक्तवत्सलता का गान मिलता है। यहाँ के लोग सामूहिक रूप से मेलों, साधुओं की संगतों, चन्द्रग्रहण, एवं सूर्यग्रहण पड़ने पर भजन गाते हैं। देवी–देवता के स्थान पर, तीर्थों आदि में भक्ति पूर्वक भजन–कीर्तन गाते हैं। भजन में भगवान की स्तुति रहती है।

निर्गुण लोकगीतों में गोरखनाथ, मछन्दर नाथ, कबीर, रैदास तथा भरथरी के गीत बड़े लोकप्रिय हैं। निर्गुन गीत कोरी, चमार, धोबी आदि निम्न जातियों में खूब गाये जाते हैं। इन

जातियों के लोग कबीरपन्थी मतावलम्बी होते हैं। तभी इन निर्गुणी भजनों को 'कबीरपंथी' भी कहा जाता है।

यह संसार एक धर्मशाला है, जिसमें कुछ दिनों ठहरकर जीव को अपने घर चले जाना हैं–

"रहना नहिं देस बिराना है

यह संसार कागद की पूड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।

भारतीय अध्यात्मवाद को साधारण ग्रामीण नर नारी कितने सरल भाव से प्रकट कर देते हैं।

"फागुन फगुआ बीत गओ, हरि नहिं आये मोर

अबकी जे हरि मोरे आहैं, रंग खेले झकझोर।"

निर्गुन मत के संतों का लोकगीतों पर खूब प्रभाव पड़ा है।

इस संबंध में डॉ0 चिन्तामणि का कथन है–

"निर्गुन संतों के विभिन्न भजनों एवं उद्देश्यों का प्रभाव जनता पर अमिट रूप से अंकित रहा हैं। कबीर, दादू आदि संतों की भावनाओं के आधार पर जनता ने अपनी धार्मिक प्रवृति को प्रकट करने के लिए जिन गीतों का निर्माण किया है, वे लोकगीतों की परम्परा गें आज भी सुरक्षित हैं"। (1)

भारतीय संस्कृति की विशेषता है कि बड़े बूढ़े की मृत्यु पर शोक नहीं मनाया जाता है। मृत्यु आत्मा–स्थानान्तरण मात्र मानी जाती है। इसलिए किसी साधु–महात्मा अथवा वृद्ध व्यक्ति की मृत्यु पर 'निर्गुणी भजन गाये जाते हैं। बाजे, गाजे झांझ आदि बजाते हुए मृत व्यक्ति को श्मशान यात्रा हेतु ले जाते हैं। ये 'नारदी भजन' भी कहलाते हैं। मृत्यु ही मनुष्य को

---

(1) लोकायन – डा0 चिंतामणि उपाध्याय, पृष्ठ 55, 56

परब्रह्म परमात्मा के समीप ले जाती है अतः इन्हें 'नारदी भजन' की संज्ञा देना उपयुक्त है।

फागें :-

बुन्देलखण्ड में होली के त्यौहार के अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं उन्हें "फाग" कहते हैं। फागुन मास में गाये जाने के कारण इन गीतों का नाम 'फाग पड़ गया है। माघ मास की शुक्ल पंचमी से बसंत ऋतु का आगमन माना जाता है। इसी दिन से ग्रामीण लोग गाँव-गाँव में फाग गाना प्रारम्भ कर देते हैं। और पूरे एक महीने भर चैत्र कृष्ण की पंचमी तक ढोलक, डफ, झाँझ मजीरों की ध्वनि के साथ नर-नारी अलग-अलग टोलियों में होरी गाते और आनन्दित होते हैं।

होली भारत के प्राचीनतम त्योहारों में से एक है। इसका सम्बन्ध सामाजिक तथा कृषि जीवन से विशेष दिखाई देता है।

लोक कवि ईसुरी चौकड़याऊ फाग के जनक कहे जाते हैं। फाग में प्रायः चार अथवा पाँच कड़ियाँ होती हैं। एक चौकड़याऊ फाग का नमूना दृष्टव्य है-

"बखरी रहियत है भारे की, दई पिया प्यारे की।
कच्ची भींत उठी माटी की, छाई फूस चारे की।
बे बंदेज बड़ी बेबाड़ा, जीमें दस दुआरे की।
किवार किवरिया एकऊ नइयां, बिना कुंची तारे की।
ईसुर चाय निकारों जिदना, हमें कौन उबारे की।"(1)

बसंत का महीना बड़ा मोदक होता हैं इस ऋतु में न तो गर्मी पड़ती है और न सर्दी। मनुष्य आनन्द मग्न हो, रंग और अबीर से खेलता, गायन वादन एवं नृत्य का आयोजन करता तथा भस्म आदि धारण कर बिहँसती प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहता है।

(1) हि० सा० का० वृ० इति० (षोडस भाग-1, पृष्ठ- 337)

लोक जीवन के विभिन्न व्यापारों तथा सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थितियों का मार्मिक चित्रण इन लोक गीतों में मिलता है। होली के दिन गाये जाने वाले गीतों में अश्लीलता अधिक होती है। इन अश्लील भावों का विवेचन हमें पौराणिक गाथाओं से प्राप्त होता है इसलिए इस परम्परा में होली के समय गाली देने आदि की प्रथा चली आ रही है।

फागों में राधा कृष्ण, राम सीता, शिव पार्वती आदि पौराणिक देवों की कथाओं का स्फुट वर्णन पाया जाता है। कहीं राम चारों भ्राताओं सहित होली खेल रहे हैं। कहीं चारो भाई मुनि वशिष्ट से जनकपुर के स्वयंवर में शामिल होने की सलाह कर रहे हैं। कहीं रानी कैकेई अपने वरदान माँगने के हठ पर अड़ी है जिसमें–

'भरत कौ राज, शरत को गोदी, राम को दओ बनवास'।

की माँग की गई है।

अधिकांश फागें ब्रजचंद, कृष्ण और राधा से संबंधित है और उनमें वृन्दावन, गोकुल, नंदगाँव और बरसाने ग्रामों का नाम आता है।

फाग के गीतों के प्राप्त सामग्री के आधार पर निम्न विभेद किये जा सकते हैं–

(1) छंदयाऊ या होरी (2) चौकड़ी (3) डेढ़खुरी (राई) (4) साखी

(5) रसिया (6) स्वांग (7) ख्याल या रजपूती (8) लेद

फाग गाने के समय दो दल विभक्त हो जाते हैं। हाथ में ढोलक, झांझ लेकर बजाते हैं। एक अगुवा गीत की प्रथम कड़ी को गाकर प्रारंभ करता तब दूसरा उसको आगे बढ़ाता है। गीत की गति के बढ़ाव के साथ गाने के स्वर में वृद्धि होती जाती है और वाद्य भी गंभीर बजने लगते हैं। जब गीत चरम सीमा पर पहुँच जाता है, गवैये भावावेश में घुटने के बल खड़े होकर गंभीर स्वर में गाने लगते हैं।

रामा :–

बुन्देलखंड के इस रामा को बुआई के गीत भी कहते हैं। खेतों में बीज बोते समय स्त्रियां गीत गाती हैं, जिन्हें हम 'बुआई' के गीत' कह सकते हैं।

ए तो सासु के दोऊ बालक रोवत सारी रैन।
काइकों तो रोवत सारी रैन,
भोर भए उठि– बाबू दोई, सपरन गये।
देखात सकल जहान।
कायखौं तुम सारी रैन रोये,
अरी कायखौं तो जानत सब संसार। (1)

चैत्र की फसल काटते समय स्त्रियाँ अपने दिनरी गीतों से जनशून्य वातावरण में चिर परिचित सजीवता भर देती हैं।

ये चैत्र मास में गाये जाने के कारण चैता भी कहलाते हैं।

कहने का अर्थ है कि लोक जीवन ने अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल आरम्भ से ही गीतों का सृजन कर लिया। श्रम और सुख–दुःख को भुला देने की यह युक्ति कितनी आनन्दमय, कितनी आकर्षक और सरल है।

रसिया :–

'रसिया' रास की एक विशेष धुन है, जिसे निश्चित स्वर में गाकर रासलीला करते हैं। ब्रज में इन गीतों में होली भी सम्मिलित है। वैसे तो होली राग–रागिनी का विषय है। संभव है कि पहले होली गाई जाती है और फिर उसमें कुछ हेर–फेर कर 'रसिया' बना लिया गया है।

---

(1) बुन्देली लोकगीत भाग (2) "डॉ0 राम स्वरूप श्रीवास्तव" क्रमांक–41

रसिया एक श्रृगांर प्रधान गीत है। इस तरह लोकगीतों की रचना में प्रथम स्थान भाव को मिला है। इन लोकगीतों में कोई भी भावना वर्जित नही मानी गयी है और न ही उसमें कोई शास्त्रीय प्रतिबन्ध है पर प्रचलित गीतों में दो बातें सदैव मिलती हैं। पहली तो रस बोध की स्पष्ट अभिव्यक्ति और दूसरी चीज लोक–मर्यादा का संरक्षण । क्योंकि बुन्देली समाज अपनी परम्पराओं में जीवित है।

दादरे : –

शादी विवाह या किसी भी शुभ अवसर पर स्त्रियाँ दादरा गाती हैं। इन गीतों में ननद भावज के नेगों के झगड़ें पग–पग पर मिलेंगे। ''दादरा एवं कहरवा' क्रमशः छः व आठ मात्राओं की तालें हैं। 'दादरा एवं कहरवा' लोकगीत की विधाएं बुन्देलखण्ड में हैं। ये विधायें इन्हीं तालों में गायी जाती हैं। बुन्देलखण्ड में हर घर में 'बहू' के आगमन पर 'दादरे' का बुलौवा लगवाया जाता है।

लोरी :–

घर की बड़ी–बूढ़ी, दादियाँ तथा माताएँ शिशुओं को पालने में झुलाकर उनको प्रसन्न रखने हेतु एवं सुलाते समय जो गीत गाती हैं वो 'लोरी' या पालने के गीत कहे जाते हैं। बालक जब रूठ जाता है और रोने लगता है, तो उसकी माता गीत गाकर शिशु का ध्यान बँटाती हैं। बच्चे को सुलाते समय वह गाती हैं–

सोजा सोजा बारे वीर,

वीरन की बलइयाँ लै लेऊँ जमुना के तीर।

बर पै डारौ पालना, पीपर पै डारी डोर

जौ लौ भइया रोउन लागे, तौ नों आगई मोर। [1]

---

(1) 'बुन्देली लोकगीत भाग–1, ''डॉ0 रामस्वरूप श्रीवास्तव' क्रमांक–51

संगीतमय माँ की ममता भरी थपकी पालन के मंथर आलोड़न के साथ शिशु के हृदय में आनन्द भर देती है।

बालक कितना ही रोता हो गीत प्रारम्भ करते ही वह तुरंत चुप हो जाता हैं। वह गीत सुनने–सुनते सो जाता हैं। ऐसे गीतों को लोरी कहते हैं।

गारी :–

बारात के खाना खाते समय स्त्रियाँ मधुर रस भीनी गालियाँ गाती हैं, जिन्हें 'गारीं गाना' कहते हैं। किसी गीत में अवध पुरी बारात सजकर जनकपुरी आने और खाने की बात कही गयी है किसी में षट रस व्यंजन और विविध भाँति की भोजन साम्रगी का उल्लेख है और कुछ आधुनिकता की छाप लिये हुये हैं।

बुन्देलखण्ड में हरदौल संबंधी गारी अत्यत्न प्रसिद्ध है

''नजरियों के सामने तुम हरदम लाला रहियो
जैसी लाला अबैं निभाई तैसी सदा निभइयो''

शिवजी और रामजी के विवाहों की गारियाँ प्रसिद्ध हैं। बुन्देलखण्ड में 'श्रमण की गारी', 'सुलोचना सती की गारी', 'गारी में राष्ट्रीयता का पुट', 'रसबारी के भौंरा', 'भलेंजू' मोरी 'भंवर कली', 'हाँ हाँ जू–हूँ–हूँ जू' आदि टेक लगाती हुई गारी भी गायी जाती हैं। कई गारियाँ अश्लील भी हैं, जिन्हें स्त्रियाँ बेधड़क लाज शरम त्याग कर गाती हैं। हरदौल के भात देने की गारी बुन्देलखण्ड में विशेष महत्व रखती है–

''महासोर भओ लाला हरदौल, मरे भात दओ
लाला की करनी कछु बरनी नहँ जाई,
मंडप के नीचे सामान नहि समाई
देन दायजो सुहाई, सोवरन चाँदी जेवरात
सब नओ नओ महासोर भयो'' –संकलित

सोहरे :–

बच्चे के जन्म होते ही घर स्त्रियों से भर जाता है और वे सोहरे गाने लगती हैं। इन गीतों में प्रत्येक प्रसूता स्त्री को रानी कौशल्या और पिता को राजा दशरथ माना जाता है –

"अंगना में बैठी कौशिल्या रानी, हार नोनें गो रई महाराज।
माये से बारी ननदी हँस रई, हँस कैं बोलियो महाराज।
भौजी के हुइयैं, बारे लालन, हार नौने लै लियो महाराज।
बइया की चूमौं हतुलियाँ, धिउ गुर मौं भरो महाराज।
ऊँचे अटा चढ़ हेरैं बैना, बधइयाँ की कै बजैं महाराज।
कौन घर बाजत बधाई, कौन घर सोहरे महाराज।
बाबुल घर बजत बधाई, बीरन घर सोहरे महाराज।"[1]

बुन्देलखण्ड में पुत्र जन्म के साथ मांगलिक कार्यक्रमों का लम्बा दौर शुरू हो जाता है। इसमें भौं –लोटनी, कांके, दस्टौन, सरिया, नरा छीनना, पालना, कुआं–पूजन, कर्ण–छेदन, अन्न–प्राशन, मुण्डन आदि संस्कारों का विधान किया जाता है। इन अवसरों पर स्त्रियाँ झूम–झूम कर राम–कृष्ण आदि से संबंधित गीतों को गाती हैं। इन गीतों में हँसी खुशी, नेग दस्तूर जच्चा के खाने के सामान आदि का वर्णन पाया जाता है।

बन्ना–बन्नी :–

विवाह संस्कार सभी संस्कारों में सर्व प्रसिद्ध तथा सर्वाधिक प्रचलित है। बुन्देलखण्ड में इन सभी कार्यक्रमों से संबंधित अवसर– प्रसंगानुकूल लोकगीत स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं। विवाह की बात पक्की हो जाती है। इस अवसर पर कन्या पक्ष द्वारा लड़के को फल, मिठाई, पैसा आदि दिया जाता है जिसे पक्कयात, फलदान या टीका चढ़ना कहते हैं। इसके पश्चात शुभ मुहूर्त

(1) बुन्देली लोकगीत भाग, 'डॉ0 राम स्वरूप श्रीवास्तव' क्रमांक–12

पर लगुन–रस्म पूरी की जाती है। यहाँ से वैवाहिक कार्यक्रम विधिवत प्रारम्भ हो जाते हैं। लगुन के दिन से ही लड़का और लड़की को बन्ना–बन्नी अथवा बनरा–बनरी कहा जाने लगता है। वर–कन्या दोनों पक्षों के यहाँ उनके विवाह से संबंधित गीत गाये जाने प्रारम्भ हो जाते हैं। लड़के–लड़की को पीठे पर बिठाकर बहन, भौजाई, गाँव घर की पाँच सात कन्याएं तेल–हल्दी चढ़ाती हैं तथा गाती हैं। वर पक्ष की ओर 'बन्ना' गाये जाते हैं। इन गीतों में बन्ना के साज श्रृगांर का वर्णन रहता है। पचरंगी पनरथ, पचरंगी कंकन, सब वस्तुयें पचरंगी शोभित हो रही हैं। किसी गीत में माली से बन्ना को सेहरा पहनाने, भावज से सुरमा लगाने, तमोली से बीड़ा लगाने, सुनार से कुडंल बनाकर पहनाने का आग्रह किया जाता है। वर पक्ष में तिलक, सगुन, मौर वस्त्र धारण, हरदी, मातृ पूजा आदि के गीत होते हैं।

जहाँ वर पक्ष के गीत दूल्हा की सजावट, बरात की धूमधाम शान शौकत के होते हैं, वहाँ कन्या पक्ष के गीत ह्रदय को द्रवित करने वाले होते हैं। एक गीत में बेटी ससुराल जाने वाली है, वह कहती हैं कि हे बाबुल मैं चली जाऊँगी, तो तुम्हारा घर सूना हो जायेगा पर पिता दो टूक उत्तर देता हैं–

"बाबुल तेरो चौका जो सूना रे,
बाबुल तेरी धीय बिना।
बेटी बामनी लगाय लूंगौ री,
लाड़ों घर जाओ आपने।" (1)

कन्या के यहाँ तिलक, संझा, हरदी, लावा भुजाई, मातृपूजन, भांवर, सोहाग, द्वार रोकने, भात, उबटन, विदाई, कंगन खुलाई आदि के गीत होते हैं।

---

(1) बुन्देली लोकगीत भाग–1 'डॉ0 रामस्वरूप श्रीवास्तव' क्रमांक 197

सुआटा :-

कहा जाता है कि सुआटा नामक राक्षस कन्याओं का अपहरण किया करता था। कन्याओं ने पीड़ित हो पार्वती जी का नौ दिन का व्रत रखा, तब पार्वती जी ने प्रसन्न होकर सुआटा का वध कर कन्याओं की रक्षा की। नौरात्र के प्रथम दिन मिट्टी का नौरता मनुष्य आकार में दिवार के सहारे स्थापित किया जाता है पास में ही शिव-पार्वती की आकृति बनती है। प्रतिदिन गौर बनाकर उनकी पूजा की जाती है। सुआटा के दायें-बायें चन्द्रमा सूरज बनाते हैं प्रतिदिन प्रातः काल बालिकायें पूजा कर गीत गाती हैं :-

"नौ दिन खेलो बेटी नौरता, नारे सुआटा

दस दिन करहुँ उपास,

दसैं दसेरो वितीओ , नारे सुआटा

बीसवें दिवारी होय" (1)

मामुलिया :-

बुन्देलखण्ड की कुमारी बालिकाएं भादो मास में (कहीं-कहीं क्वार के कृष्णपक्ष) में भी मामुलिया के गीत खेल करती हुई गाती हैं। यह संध्या समय खेला जाता है। आंगन के बीच गोबर से चौकोर लीपकर और चौक पूरकर बबूल की कांटेवाली हरी शाखा लगा दी जाती है- यही मामुलिया है। हल्दी और अक्षत से पूजा करके कांटों में फूल खोंस दिये जाते हैं, भुने हुए चने, ज्वार के फूले, फूट, कचरिया आदि का प्रसाद चढ़ाकर बालिकाएं उसकी परिक्रमा लगाती हैं। इसके लिए कोई तिथि या वार निश्चित नही होता है। बाद में उसे उखाड़ कर किसी तालाब या नदी में बहा देती हैं।

---

(1) बुन्देली लोकगीत भाग 2 - डॉ0 राम स्वरूप श्रीवास्तव क्रमांक 232

गोटें :–

बुन्देलखण्ड के प्रत्येक गाँव में कारसदेव के चबूतरे बने हुये हैं। कारसदेव पशुपालक अहीर जाति के एक वीर देवता हैं। इनको अहीर और गूजरों का देवता कह सकते हैं। ईटों के त्रिकोण आकार के दो छोटे से घर बने होते है। इनमें एक तो कारसदेव और दूसरे उनके भाई सूरपाल हैं। वही सफेद कपड़े की झंडिया (ध्वजाएं) फहराती रहती है। प्रत्येक महीने के कृष्ण चतुर्थी और शुक्ल चतुर्थी को अहीर गूजर रात्रि में इकट्ठे होते हैं और घुल्ला के सिर कारसदेव आते हैं। सवारी के आह्वान के लिए डमरू और घंधुरू लगी हुई ढोलक पर जो ढांक कहलाती है, वो पीतल या मिट्टी की बनी होती है और कुछ विशेष प्रकार के गीत गाये जाते हैं जो गोट कहलाते हैं।

इन गोंटों में कारसदेव के जन्म से लेकर मृत्यु तक की पूरी कथा कही गई है। गोट्या ढोलक को एक ओर लकड़ी और दूसरी ओर हाथ से बजाता ओर गोटें गाता हैं। सवासेर भोग, जिसमें आटा, दाल, घी, गुड़ आदि शामिल है, प्रत्येक भगत नारियल और बताशे चढ़ाता है।

लोकगीतों का मानव जीवन के संस्कारों के साथ गहरा सम्बन्ध है। लोक–जीवन का सुन्दरतम प्रतिबिम्ब लोक–गीत संगीत में दिखाई पड़ता है। इन गीतों के स्वरों व शब्दों में लोक ने मानो अपनी सम्पूर्ण संवेदनाओं और अनुभूतियों को निष्कपट, सरल और स्वाभाविक ढंग से रख दिया है। वह सुख–दुःख के समय अपने अनुभवों को गीतों के माध्यम से प्रकट कर देता है इसके लिए वह शास्त्र का विचार नही करता वह तो भावो टेक के समय अपनी मस्ती में कुछ कह उठता अथवा कुछ गा उठता है और वही वास्तविकता में लोकगीत होता है।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकगीतों ने अभी तक लोक संस्कृति की बहुत बड़ी विरासत सम्हाल रखी है। बुन्देलखण्ड का लोक संगीत इतना अधिक समृद्ध है कि संगीत

की तीनों विधाओं गायन, वादन एवं नृत्य तीनों कलाओं में एक ही व्यक्ति कितना निपुण है इसका साक्षात प्रमाण यहाँ के लोक नृत्यों में दिखाई देता है, कांडरा व ढिमरियाई नृत्य में नर्तक हाथ में केंकड़िया बजाता हुआ, साखी व गीत गाता हुआ पद–संचालन अर्थात नृत्य करता है, नृत्य में भिन्न–2 लयकारियों से चमत्कृत कर देता है, ऐसे उदाहरण अन्यत्र देखने को नही मिलते।

तृतीय अध्याय

'भारतीय सांगीतिक वाद्यों का विवरण'

भारतीय परम्परा के अनुसार वेदों को ब्रह्मा जी द्वारा प्रकट करने वाला बताया गया है। भारतीय संगीत के क्षेत्र में दो आदि देव माने गए है। – देवाधिदेव शंकर एवं सृष्टि रचयिता ब्रह्मा जी।

भरत के नाट्यशास्त्र में दिया गया है कि –''भगवान ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, साम से गीत, यजुर्वेद से अभिनय एवं अथर्ववेद से रस लेकर नाट्य वेद की सृष्टि की। देवराज इन्द्र की प्रार्थना पर ब्रह्मा जी ने महामुनि भरत को नाट्यवेद की शिक्षा दी। भरत ने नाट्यवेद की शिक्षा प्राप्त कर अपने पुत्रों को शिक्षित किया। ब्रह्मा जी ने स्वाति एवं उनके शिष्यों को वाद्य तथा नारद और गन्धर्वो को गान योग में निपुण किया।'' [1]

'वाद्य' शब्द 'वद्' धातु से 'णिच्' और 'यत्' प्रत्यय लगाने पर बनता है। सामान्य रूप से इसका अर्थ वाद्ययंत्र रूप से इसका अर्थ वाद्ययंत्र ही समझा जाता है। संगीत शास्त्र में यह शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है– वाद्ययंत्र अर्थात् ध्वनि उत्पन्न करने वाले जैसे– वीणा, झांझ, मंजीरा आदि। दूसरा वादन–विधि अर्थात् वाद्यों पर की जाने वाली क्रियायें जैसे वीणा का हस्तव्यापार आदि। तीसरा वाद्यों पर बजाई जाने वाली निबद्ध सामग्री जैसे – स्वरबद्ध रंचनाएं या वाद्य प्रबन्ध आदि। चौथा गेय रचनाओं को तंत्र वाद्यों पर बजाने का प्रकार जैसे– तत्व, अनुगत या गीतानुगत वाद्य आदि।

अतः वाद्य शब्द का 'वाद्ययंत्र' क्रिया, वादन की अन्तर्वस्तु, वादन के प्रकार आदि अनेक अर्थों में प्रयोग किया गया है।

अर्थात् संगीतात्मक ध्वनि तथा गति को प्रकट करने के उपकरण को ही वाद्य

---

(1) 'नाट्य शास्त्र', भरतमुनि 1/17, 1/22, 1/25, 1/50

कहा जाता है। प्राचीन काल में मानव–कंठ को भी वाद्य कहा गया था। चूंकि कंठ वाद्य ईश्वर निर्मित है अत एवं मनीषियों ने मानव निर्मित वाद्यों का ही अध्ययन, मनन व वर्णन किया है।

आदि काल से मनुष्य वाद्यों का किसी न किसी रूप में प्रयोग करता आ रहा है। जैसे–2 सभ्यता के सोपान पर मानव अपने कदम रखता गया, वैसे ही उसके द्वारा प्रयोग किए जाने वाले वाद्य भी विकसित होते गए। ये विकास क्रम कई रूपों में चलता रहा– प्रथम तो वाद्य–निर्माण की सामग्री के आधार पर। दूसरा उसका वाह्य स्वरूप एवं आकार–प्रकार के आधार पर। तीसरा वाद्य की वादन सामग्री के आधार पर।

वाद्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ये भी कहा जाता है कि दक्ष के यज्ञ का विध्वंश करने के पश्चात उद्वेग को शान्त करने के लिए भगवान शंकर ने नन्दी , नारद तुम्बरू इत्यादि को वाद्य–निर्माण के लिए प्रेरणा दी थी।

प्रकृति ने ऐसी समस्त सामग्री जो उसके द्वारा उत्पन्न हुई है, उसे किसी न किसी प्रकार के नाद–उत्पादक यंत्र में प्रयुक्त कर दी है। मानव ने संस्कृति के प्रारम्भिक चरण में ध्वनि उत्पन्न करने की विभिन्न क्रियाओं से ही सीखा होगा जैसे–हाथ से ताली देने से, रगड़ने से, घिसने से, चोट करने से , थपथपाने से, हिलाने से, फूंकने से आदि इन क्रियाओं को बहुत समय तक करने के पश्चात ही प्रथमतः क्रिया–अंग वाद्य एवं धीरे–2 वाद्यों के निश्चित वस्तुरूप ही इसके परिणाम हैं।

संगीत–वाद्यों के विशाल भण्डार का स्वरूपात्मक एवं प्रयोगात्मक अध्ययन उन वाद्यों द्वारा उद्भूत ध्वनियों के वैज्ञानिक विश्लेषण के बिना अधूरा समझा जाता है।

वैज्ञानिक दृष्टि से संगीत सृष्टि ध्वनि–आन्दोलनों का परिणाम है। दो वस्तुओं की टक्कर अथवा रगड़ पास की वायु आन्दोलित करती है। तथा जल–तरंग की भाँति वह वायु वातावरण में कम्पन उत्पन्न करती हुई हमारे कर्ण–रन्ध्रों में प्रवेश कर प्रकृति प्रदत्त कर्ण–यन्त्र को

स्पन्दित करती है जिससे हमारी चेतना को ध्वनि का अनुभव होता है। जब तक हमारे कर्ण–यन्त्र वातावरण में उत्पन्न आन्दोलनों को ग्रहण नहीं करते तब तक हमारे लिए ध्वनि का कोई अस्तित्व नही होता।

ध्वनि अथवा नाद दो प्रकार का होता है। एक वह है जिसका संगीत में उपयोग होता है तथा दूसरा वह जिसका संगीत में उपयोग सम्भव नहीं है। उन टकराने अथवा रगड़ खाने वाली वस्तुओं में जितनी कठोरता होगी नाद की तीव्रता भी उतनी ही अधिक होगी, तथा उनमें जितनी तरलता होगी तीव्रता उतनी ही कम होगी। इसलिए ध्वनि का सुना जाना तारता एवं तीव्रता –दोनों पर निर्भर करता है। तारता से हमें पता चलता है कि अमुक ध्वनि कितनी ऊँची अथवा नीची है, तीव्रता से हम यह जान पाते हैं कि वह ध्वनि वातावरण के कितने क्षेत्र को प्रभावित कर सकी तथा गुण से हम उस ध्वनि –विशेष के व्यक्तित्व से परिचय प्राप्त करते हैं। सुनाई देने वाला नाद तंतु वाद्य का है, घन वाद्य का है, सुषिर वाद्य का है अथवा अवनद्ध वाद्य का है यह नाद की विशेषता या जाति के आधार पर हम ज्ञात कर लेते हैं।

सांगीतिक ध्वनि के संबंध में दामोदर पण्डित अपने ग्रंथ संगीत दर्पण में लिखते हैं–

''स नादस्त्वाहतो लोके रंजकों भवभंजक :

श्रृत्यादिद्वारतस्तस्मातदुत्पत्तिर्निरूप्यते।।

अर्थात नाद श्रुति स्वर, ग्राम, मूर्छना से रंजक बनकर भव भंजक बन जाता है''[1]

संगीतोपयोगी ध्वनि में उत्पत्ति के साथ–साथ कर्ण प्रियता तथा स्थिरता होना आवश्यक होता है। ध्वनि उत्पत्ति से ध्वनि श्रवण होने तक इसके तीन माध्यम होते हैं–

ध्वनि उत्पादक यन्त्र, ध्वनि तरंगे, तथा श्रवण यन्त्र।

---

(1) ताल वाद्य शास्त्र (सांगीतिक ध्वनि का वैज्ञानिक विश्लेषण) – मनोहर भाल चन्द्रराव मराठे पृ0–193

सांगीतिक ध्वनि की तीन विशेषताऐं है–

(1) तारता – नाद का ऊँचा–नीचा पन

(2) तीव्रता– नाद का छोटा बड़ापन

(3) विशेषता – नाद की जाति अथवा गुण

ध्वनि की दृष्टि से वाद्यों को दो प्रक़ार में बांटा जा सकता है– स्वर प्रधान (तत्, सुषिर, वाद्य) लय प्रधान (अवनद्ध, घन वाद्य)

अवनद्ध वाद्यों की तारता वाद्यों को बनावट पर निर्भर करती है। वाद्य का अंग, उसका मुख, मुख पर मढ़ा जाने वाला चमड़ा, उस पर लगाई जाने वाली स्याही आदि के आधार पर अनवद्ध वाद्यों की तारता जानी जा सकती है। अवनद्ध वाद्य का मुख जितना बड़ा होगा नाद उतना नीचा तथा मुख जितना छोटा होगा नाद उतना ऊँचा होगा। अवनद्ध वाद्य के मुख पर मढ़ा जाने वाला चमड़ा जितना मोटा होगा नाद उतना नीचा तथा चमड़ा जितना बारीक (पतला) होगा नाद उतना ऊँचा होगा। इस प्रकार यहाँ अवनद्ध वाद्य में तारता जानते समय वाद्य का अंग, मुख तथा चमड़े की मोटाई की सापेक्षता का ध्यान रखना चाहिए। स्याही पर आटे की लगी पुली की मोटाई का भी अवनद्ध वाद्य के नाद की तारता पर प्रभाव डालता है।

नाद की तीव्रता जितनी अधिक होगी वह ध्वनि उतनी दूर तक सुनाई देगी तथा जितनी तीव्रता कम होगी कम दूरी तक सुनाई देगी। अवनद्ध वाद्यों में तीव्रता को समझने के लिए एक बड़े आकार के नगाड़े तथा छोटे आकार के नगाड़े पर समान वेग से आघात करने पर पता चलता है कि बड़े नगाड़े की ध्वनि दूर तक तथा छोटे नगाड़े की ध्वनि अपेक्षाकृत कम दूरी तक सुनाई देगी। अवनद्ध वादक संगत करते समय वादक के उच्चारण की या वादन की तीव्रता के अनुसार अपने वादन में तीव्रता लाकर जोर से वादन करता है। अर्थात् वाद्य पर जोर से आघात कर वादन

करता है तो उत्पन्न ध्वनि पूर्व की अपेक्षा अधिक जोर से तथा दूरी तक सुनाई देती है।

वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि नाद की विशेषता श्रोत (माध्यम) से उत्पन्न होने वाले प्रसंवादियो (HARMONICS) की संख्या तथा अपेक्षित तीव्रता पर निर्भर करती है। ध्वनि की विशेषता उसके माध्यम तथा उस पर कंपन उत्पन्न करने के तरीके पर निर्भर करती है। प्रत्येक ध्वनि की अपनी एक आवृति होती है। किन्तु ध्वनि का स्वरूप या विशेषता केवल उसके मुख्य आवृत्ति पर निर्भर नही करते, वरण उन आवृत्तियों पर निर्भर करते हैं जो मुख्य आवृत्ति पर अध्यारोपित होती है। सहयोगी या अध्यारोपित आयाम विभिन्न यंत्रों में भिन्न–2 होते हैं। वाद्य के अंग–प्रत्यंग से भी कम्पन निर्माण होते हैं। प्रत्येक वाद्य की लम्बाई चौड़ाई भिन्न–2 होती है। अतः प्रत्येक वाद्य पर एक ही तारता या तीव्रता के बाबजूद उपस्वरों की संख्या भिन्न –2 होने से ध्वनि की विशेषता अलग–2 होती है। यही नाद के गुण–भेद का वैज्ञानिक कारण है।

'वाद्य कला–संगीत का मूल तत्व'

वाद्य कला किसी अन्य कला का आश्रय नहीं लेती। संगीत के मूल तत्वों की दृष्टि में वाद्यकला यथार्थतः संगीत की पूर्णरूपेण प्रतिनिधि कला है। इसमें स्वर तथा लय का ही एक छत्र राज्य है। वाद्यकला अपनी सूक्ष्मता तथा अकृत्रिमता के कारण एक ओर तो सामान्य जन की समझ से परे है दूसरी ओर अबोध शिशुओं एवं मानवेतर प्राणियों के लिए भी आकर्षण का प्रबल केन्द्र है। वाद्यकला का श्रवण करते समय जनसाधरण को प्रायः यह कहते सुना गया है कि वाद्य की ध्वनि प्रिय तो लग रही है किन्तु उसके द्वारा क्या अभिव्यक्ति हो रही है यह समझ में नहीं आता। लेकिन इस समझ के प्रति संस्कारों की आवश्यकता होती है। आनन्द प्रिय वाणी इन्हीं संस्कारों के कारण ही विभिन्न वाद्यों द्वारा उद्‌भूत स्वरों व लयों का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं।

'वाद्यों के उपकरण'

गायन वादन में भिन्न–भिन्न उपकरणों का प्रयोग होता है। एक वाह्य तथा दूसरी आभ्यन्तर। वाह्य उपकरण विशेष रूप से वाद्य संगीत में तथा आभ्यन्तर कंठ संगीत में देखा जाता है। महर्षि भरत तथा उनके परवर्ती आचार्यो ने संगीत का उपकरण होने के कारण ही कंठ ध्वनि को वाद्यों के चतुर्विध वर्गीकरण के अन्तर्गत रखकर पंच महाध्वनियों का वर्णन किया है। वाद्य संगीत में तीन उपकरण होते हैं – (1) मूल ढाँचा (2) कम्पित पदार्थ (3) प्रेरक पदार्थ। मूल ढाँचा अर्थात् वाद्य के मूल आकार की वस्तु। वाद्यों के निर्माण में अधिकांश उन्हीं वस्तुओं का प्रयोग होता किया गया है जो प्रकृति –प्रदत्त हैं। इस प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं में जैसे–जैसे समाज का विकास हुआ है कृत्रिम वस्तुओं का प्रयोग बढ़ता गया। जैसे आज से हजारों वर्ष पूर्व बांसुरियों के निर्माण के लिए मिट्टी, हड्डी तथा बाँस का ही प्रयोग होता था किन्तु क्रमशः वह लकड़ी पीतल, लोहा, चाँदी, सोना आदि की भी बनने लगी। तत् वाद्यों का ढाँचा भी लकड़ी का होता है जिसमें तुम्बी, चमड़ा अथवा पीतल कांसा आदि धातु का भी किसी–किसी वाद्य में प्रयोग होता है। घन वाद्यों का ढाँचा सूखी पत्तियों, हड्डियों लकड़ी तथा अष्ट धातुओं का बना होता है, जो प्रायः कुछ वाद्यों जैसे झुनझुना, रम्भा आदि को छोड़कर ठोस होता है।

कम्पित पदार्थ का विकसित रूप अवनद्ध तथा तत् वाद्यों में देखा जाता है। अवनद्ध वाद्यों में चमड़ा तथा तत वाद्यों में 'तार' कम्पित पदार्थ हैं। भिन्न–2 जानवरों के चमड़े का प्रयोग करके उसमें ध्वनि की दृष्टि से कौन सा श्रेष्ठ है यह देखना, चमड़े का कमाना उसके मढ़ने का वह ढंग ढूंढ निकालना जिससे ढाँचे के भीतर वायु के निकलने का कहीं छिद्र न रह जाए। उसकी ध्वनि में स्थिरता उत्पन्न करने के लिए चमड़े के भीतर अथवा ऊपरी भाग में विशेष विधि द्वारा निर्मित अतिरिक्त लेप लगाना आदि अनेक प्रयत्न किये जाते हैं। तत वाद्यों में वैदिक युग में दुर्बा(दूब) तथा मूँज के तार प्रयुक्त होते थे। फिर इसके स्थान पर बालों तथा चमड़े की

ताँत प्रयोग की गई। उसके पश्चात फौलाद, पीतल, ताँबा आदि के तारों का प्रयोग आरम्भ हुआ।

वाद्य संगीत के प्रेरक पदार्थ से तात्पर्य है जिसके द्वारा वाद्य बजाया जाता है यथा –सितार के लिए मिजराव, सारंगी के लिए गज, नगाड़ा के लिए शंकु आदि प्रेरक पदार्थ हैं। आघात की शक्ति के अभाव में उससे ध्वनि उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रेरक पदार्थ दो प्रकार के बने एक वे जिनके द्वारा आघात की यह शक्ति एक–सी प्रदान की जा सकती दूसरे जो शक्ति टूटती हुई चलती है। गज और फूँक के द्वारा विशेषतः मशक तथा हारमोनियम जैसे वाद्यों में यह शक्ति अखण्ड रूप से प्रदान की जा सकती है, जबकि सितार, सरोद, रूद्रवीणा आदि में यह शक्ति खण्डित होती रहती है। इस प्रकार यह शक्ति दायक उपकरण वाद्य–प्रकृति के अनुरूप ही होना चाहिए।

प्रेरक पदार्थ के भिन्न–2 प्रयोग से वाद्य की ध्वनि में भी अन्तर लाया जाता है। एक वाद्य किसी के हाथ से मीठा एंव किसी के हाथ से कर्कश सुनाई देता है। सुषिर वाद्यों में वायु ही प्रेरक पदार्थ है।

इस प्रकार वाद्यों का ढांचा कम्पित पदार्थ व प्रेरक पदार्थ के भिन्न–2 उपकरण अकृत्रिम से कृत्रिम होते हुए हमारी आशाओं, आंकाक्षाओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप विकसित होते चले गए।

पुरातन संगीत की असौन्दर्यात्मक प्रकृति, वाद्यों में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। पुरातन समय के वाद्य एवं उनके प्रकार आश्चर्य जनक हैं। प्रारम्भ में लोगों ने वाद्यों को बनाना व दक्षतापूर्वक बजाना सीखा परन्तु सौन्दर्य की उपेक्षा की। वाद्य अपने गुणों सहित अर्थपूर्ण थे। परन्तु आकर्षक व सुन्दर नहीं थे। उनकी महत्वपूर्ण ध्वनियाँ कोमल, जोरदार और तीखी थीं। उनके वाह्य रूप गोलाकार या नुकीले थे, उसका रंग श्वेत या रक्तिम लाल था, उनकी वादन–क्रिया चोट करके, खरोंचकर या घिसकर होती थी। कहने का तात्पर्य है कि

सौन्दर्यात्मक सुख से परे ये सब विशेषताएँ प्रारम्भिक वाद्यों में पायी जाती थीं। इस तरह संगीत के वास्तविक आनन्द को प्रदान करने योग्य बनने के लिए वाद्यों को बड़ी लम्बी दूरी तय करी पड़ी है, जिसका आंकलन कठिन है।

'वाद्यों का वर्गीकरण एवं विवरण'

वाद्यों का चतुर्विध वर्गीकरण महर्षि भरत द्वारा ही निर्धारित किया गया है तथा उनके नामों को अनेक परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

वाद्यों के वर्गीकरण के दो चार वर्ष के इतिहास में केवल दो परिवर्तन विशेष रूप से परिलक्षित होते हैं। प्रथम है– वितत– जो अवनद्ध के स्थान पर पर हुआ है दूसरा है ततानद्ध। वितत शब्द का प्रयोग तानसेन तथा उसके बाद के कलाकारों द्वारा विशेष रूप से प्रचारित हुआ है। तानसेन ने अपनी शास्त्रीय पृष्ठभूमि संगीत रत्नाकर का आधार लेकर बनायी है किन्तु वितत शब्द का प्रयोग रत्नाकर में नहीं हुआ है। तानसेन के पूर्व रचित संगीत चूड़ामणि में अवश्य अवनद्ध के स्थान पर वितत शब्द का प्रयोग मिलता है।

''संगीत मकरंद के रचयिता नारद ने अपने ग्रंथ में ध्वनि के आधार पर सांगीतिक ध्वनि का शरीरज, नखज, वायुज, चर्मज और लोहज ऐसे पॉच रूपों में वर्गीकरण किया है। जिनमें से एक ध्वनि शरीरज मनुष्य के कंठ से उत्पन्न उसकी प्रकृति प्रदत्त ध्वनि है। तथा शेष चार प्रकार की ध्वनियॉ मानव द्वारा प्राप्त की गई है।'' [1] इसकी उत्पत्ति में मनुष्य के शरीर के विभिन्न अंगों का प्रयोग किया जाता है।

नख के उपयोग से बजाये जाने वाले, फूंक के उपयोग से बजाये जाने वाले तथा हाथ के उपयोग से बजाये जाने वाले वाद्यों का उल्लेख प्राचीन काल से ही उपलब्ध होता है।

(1) एक ईश्वर निर्मित नैसर्गिक अन्यच्चतुर्विधं मनुष्यनिर्मित चेति, पञ्चप्रकारा महावाद्यानाम। (नारदीय शिक्षा संगीत चूड़ामणि, बड़ौदा संस्करण पृ0 69)

इस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के उपयोग के अनुसार विभिन्न पदार्थों से बने वाद्यों का भी उल्लेख प्राचीन काल से उपलब्ध है। वंशी, मृदंग, ताल, वीणा शंख आदि वाद्यों का प्रयोग अति प्राचीन काल से किया जा रहा है।

"महर्षि भरत और दत्तिल ने वाद्यों के चार प्रकार बताये हैं यथा (1) तत् (2) आनद्ध (3) घन एवं सुषिर " [1]

प्राचीन युग में विकसित वाद्यों के प्रकारों में से महर्षि भरत का वर्गीकरण सर्वथा उचित तथा पर्याप्त प्रतीत होता है।

ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च।
चतुविधिं तु विज्ञेयमातोधं लक्षणान्वितम्।।1।।

भ0 ना0 28।।

इन चार प्रकार के वाद्यों के लक्षण को स्पष्ट करते हुए उन्होनें कहा है–

तत् तन्त्रीकृत ज्ञेयम वनद्धं तु षौष्करम्।
घनं तालस्तु विज्ञेयः सुषिरों वंश उच्यते।।2।।

भ0 ना. 28

तत् अवनद्ध, घन एवं सुषिर क्रमशः तन्त्री वाद्य, पुष्कर वाद्य, ताल वाद्य तथा वंशी वाद्य हैं।

महर्षि भरत के समय समस्त वाद्यों को आतोद्य भी कहते हैं। महर्षि बाल्मीकि तथा महाकवि कालिदास ने बहु–वाद्य –सूचक के रूप में तूर्य शब्द का भी प्रयोग किया है। महाभारत में भी अनेक वाद्यों के साथ बजने के सन्दर्भ में तूर्य का उल्लेख हुआ है। पाली साहित्य में तुरिय शब्द वृन्दवादन का द्योतक माना गया है। पाली साहित्य में तुरिय पंचात्रिक के अन्तर्गत पांच

---

(1) क–भरतेन वाद्यं चतुर्विधं प्रोक्तम– संगीत चूड़ामणि बड़ौदा, संस्करण, पृ0 69

ख–दत्तिलेन तु आनद्धं ततं घनं सुषिरं चेति चतुर्विध वाद्य कीर्तितम्।

प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मिलता है। आतत् वितत्, आतत–वितत, घन और सुषिर।

यद्यपि भरत के वर्गीकरण को लगभग सभी आचार्यों ने मान्य किया तथापि अवनद्ध के स्थान पर आनद्ध शब्द का या वितत् शब्द का उल्लेख कई आचार्यों ने किया है। कुछ आचार्यो ने तत् के स्थान पर आतत् शब्द का उपयोग भी किया। आतत् वितत् ये शब्द सर्वप्रथम किसने उपयोग किये यह स्पष्ट नहीं हो पाया परन्तु 12वीं सदी में हरिपाल ने संगीत सुधाकर "ग्रथ में तथा जयदेव ने अपने संगीत–ग्रंथ चूड़ामणि में अवनद्ध के स्थान पर वितत् शब्द का प्रयोग किया है।–

ततं च विततं चैव घनं सुषिरमेव च।

गानं चैव तु पंचैतत् पंचशब्दः प्रकीर्तिताः।।

(संगीत चूड़ामणि बड़ौदा संस्करण)

शारंगदेवकृत 'संगीतरत्नाकर'' ग्रन्थ का 6 वां अध्याय वाद्याध्याय है। उन्होनें चार प्रकार के वाद्य बताये।

'तत्–वाद्य'

जिस वाद्य में तार लगे हों तथा उनमें टंकार या रगड़ देकर उनका वादन होता हो, और जिसके वादन से श्रुत्यादि की उत्पत्ति हो उसे तत् वाद्य कहा जाता है। जैसे– वीणा, इकतारा, चित्रवीणा, विपंची, सांरगी, मत्तकोकिला, सितार, तम्बूरा आदि।

तत् वाद्य को चार उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) उँगलियों से छेड़कर बजाये जाने वाले –स्वरमण्डल, तम्बूरा आदि आते हैं।

(2) मिजराव से बजाये जाने वाले वाद्य –सितार, सरोद, रूद्रवीणा, तंजोरी वीणा आदि।

(3) गज से रगड़कर बजाये जाने वाले वाद्य– सांरगी, इसराज, दिलरूबा, रावण–हत्था आदि वाद्य आते हैं।

(4) डण्डी से प्रहार कर अर्थात आघात से बजाये जाने वाले वाद्य– सन्तूर, कानून आदि वाद्य आते हैं।

बनावट अथवा ढाँचे की भी दृष्टि से इन वाद्यों के छः उपवर्ग माने जा सकते हैं–

(1) लम्बी गरदन वाले वाद्य – सितार, इसराज, दिलरूबा, तम्बूरा, वीणा आदि।

(2) छोटी गरदन वाले वाद्य– सांरगी, वॉयलिन, रावणहत्था, मिण्डोलियन आदि विदेशी वाद्य आते है।

(3) एक या दो तुम्बा युक्त वाद्य वीणाएँ, तम्बूरा सितार आदि।

(5) इस वर्ग में ठोस सीधी अथवा धुमावदार लकड़ी से बने वाद्य आते हैं। भारतीय वीणाएं ईरानी व पाश्चात्य हार्प।

(6) चपटे पहलदार अथवा चौकोर सन्दूक की भाँति बने वाद्य स्वरमण्डल तथा सन्तूर आदि।

उपरोक्त तत् वाद्यों के वादन के लिए रखने की स्थिति भी कुछ इस प्रकार है– (1) सारंगी, इसराज, दिलरूबा को गोद में रखकर अथवा ये कन्धे पर सहारा लेकर बजाये जाने वाले वाद्य हैं। (2) गोद अथवा जाँघ का सहारा लेते हुए तिरछे रखकर बजाये जाने वाले वाद्य–सितार, सरोद, सुर–सिंगार, रबाब, रूद्रवीणा, आदि वाद्य हैं। (3) इसमें वाद्य के सम्पूर्ण या उसका एक भाग गोद में चित्त अवस्था में रखकर बजाये जाने वाले वाद्य – पियानों, सन्तूर, कानून आदि आते हैं।

'सुषिर–वाद्य'

छिद्र युक्त वाद्य, जिनका वादन मुख से फूंक द्वारा (वायु द्वारा) घर्षण से ध्वनि उत्पन्न कर बजाया जाए वे सुषिर वाद्य कहे जाते हैं।

वादन क्रिया की दृष्टि से इसके दो भेद किये जा सकते हैं –

(1) मुंह से फूंककर बजाए जाने वाले जैसे –वंशी, मुरली, पाविका, पुंगी, शहनाई, नागस्वर, शंख आदि।

(2) अन्य किसी साधन से वायु उत्पन्न करके बजाए जाने से–जैसे हारमोनियम, स्वरपेटी आदि।

बनावट की दृष्टि से सुषिर वाद्यों के मुख्य छः उपवर्ग है।

(1) सादे बने हुए वाद्य– इन वाद्यों में फूंक के लिए एक छिद्र होता है तथा उस छिद्र को खोलने और बन्द करने की क्रिया उँगली के पोरों से की जाती है।

(2) पत्तीदार सादे वाद्य – इस वाद्य में फूंक के स्थान पर एक पत्ती लगा कर फूंकते हैं। किंतु स्वर का सीधा सम्बन्ध उंगली से होता है जैसे–शहनाई, नागस्वर आदि।

(3) पत्तीदार तथा चाभीदार वाद्य – इस वाद्य में फूंक के स्थान पर पत्ती लगी रहती है तथा स्वरों के छिद्रों को खोलने तथा बन्द करने के लिए चाभियाँ लगी होती हैं। जैसे–क्लारियोनेट, सेक्सोफोन आदि।

(4) घुमावदार बने हुए– इनमें पीतल से बने हुए फूँक के वे वाद्य आते हैं, जिनका अधिकांश उपयोग बैण्डों में होता है। ट्रम्पेट आदि इसी वर्ग के वाद्य हैं।

(5) फूँकने वाला मुख सामान्य किन्तु दूसरी ओर का मुख फूलदार अर्थात बाहर की ओर फैला हुआ जैसा कि शहनाई, नागस्वर आदि में होता है।

(6) रीड लगे हुए वाद्य– वे सभी वाद्य आते हैं जिसमें प्रत्येक स्वर के लिए पीतल या अन्य किसी धातु के अलग–2 रीड बनाकर क्रम से लगा दिये जाते हैं। इसके अन्तर्गत हारमोनियम, हारमोनिका, स्वरपेटी आदि वाद्य आते हैं।

'अवनद्ध–वाद्य'

जिन वाद्यों का मुख चर्माच्छादित हो तथा जिनको हाथ या किसी अन्य माध्यम से थाप लगाकर बजाया जाता है, उन्हें आनद्ध या वितत वाद्य कहते हैं। वितत का तात्पर्य है – तांत या तार से रहित वाद्य। साथ ही इनके वादन से गीत की रंजकता बढ़ती है। इसके अन्तर्गत पटह, घट, हुडुक्का, ढोलक, मृदंग, मादल, नाल, रूँजा, झल्लरी आदि वाद्य आते हैं। इस वर्ग में यद्यपि सभी वाद्य अपनी–अपनी विशेषता रखते हैं, किन्तु पखावज, तबला, तथा ढोलक का विशेष स्थान है। बनावट की दृष्टि से अवनद्ध वाद्यों को चार उपवर्गों में रखा जा सकता है–

(1) भीतर से खोखले तथा दोनों मुखों पर मढ़े हुए वाद्य।

उपर्युक्त के भी पांच रूप देखने को मिलते है :–

(क) गोपुच्छा– ऐसे वाद्य जिनका एक ओर बड़ा मुख तथा दूसरी ओर छोटा मुख तथा बीच में उठा हुआ। भरत के समय के मृदंग का एक भाग ऐसा ही था। मृदंग का रूप ऐसा ही है।

(ख) यवाकृति – दोनो मुख छोटे बीच का भाग उठा हुआ। आधुनिक खोल का यही रूप है।

(ग) हरीतकी – दोनों मुख समान तथा मध्य भाग भी समान। पंजाबी ढोलक तथा महाराष्ट्र की ढोलक का यही रूप प्रचलित है।

(घ) मध्य भाग तथा दोनों मुख समान – जैसे ढोल और पाश्चात्य वाद्य ड्रम आदि।

(ङ) दोनों मुख समान किन्तु मध्य भाग भीतर धंसा हुआ – जैसे – डमरू हुडुक आदि।

(2) दूसरे उपवर्ग में वे वाद्य आते हैं जो भीतर से खोखले होते हैं किन्तु एकमुखी होते हैं। तथा इनका दूसरा छोर बन्द होता है।

इनके भी मुख्य रूप से तीन उपवर्ग है :

(क) अर्ध गोपुच्छा – ऐसे वाद्यों के मुख का वृत्त जितना है उससे दुगना दूसरे छोर का वृत्त होता है जैसे – दाहिना तबला, घट आदि।

(ख) अर्ध यवाकृति– ऐसे वाद्यों का मुख बड़ा होता है साथ ही दूसरा छोर कुछ नुकीला होता है जैसें– नक्कारा, नगड़िया आदि।

(ग) अर्ध हरीतकी–ऐसे वाद्य जिनका मुख बड़ा, साथ ही दूसरा छोर जो बन्द होता है, वह नुकीला न होकर कुछ गोलाई लिए हुए होता है जैसे– बांया तबला, तबल आदि।

(3) तीसरे उपवर्ग के वाद्य वह हैं, जो भीतर से खोखले होते हैं दो मुख होते हैं, किन्तु मढ़ा एक ही मुख जाता है दूसरा मुख खुला रहता है। ऐसे वाद्यों का प्रचार अफ्रीका तथा पाश्चात्य देशों में देखा जाता है।

(4) लकड़ी की चार से छह अंगुल तक चौड़ी पट्टी में जो गोल पहलदार अथवा अन्य किसी आकृति का छोटा या बड़ा घेरा होता है उसी में एक ओर चमड़ा मढ़ा रहता है। इस उपवर्ग में अनेक वाद्य हैं जो चंग, डफ, डफला, करचक्र, गंजीरा, खंजरी, दायरा आदि नामों से प्रसिद्ध है।

'घन–वाद्य'

घन वाद्यों को मुख्यतः तीन निम्नलिखित उपवर्ग में रख सकते हैं :

(1) एक से ही दो हिस्सों को परस्पर टकराकर बजाये जाने वाले वाद्य – इस वर्ग में झाँझ, मंजीरा, कठताल, कम्रिका आदि आते हैं।

(2) डण्डी अथवा लकड़ी की हथौड़ी से प्रहार कर बजाए जाने वाले वाद्य– जयघण्टा, विजयघण्टा, गांग गेमलन, बड़ी झांझ आदि।

(3) हाथ में पकड़ हिलाकर बजाये जाने वाले वाद्य – इनमें किसी पोले पदार्थ के भीतर कंकड़ आदि डालकर हिलाकर बजाते हैं। जैसे झुनझुना, रम्भा, आदि।

प्राचीन काल से अब तक वाद्यों के रूपों में अनेक परिवर्तन हुए हैं तथा होते आ रहे हैं। भारतीय वाद्यों का इतिहास देखने से पता चलता है कि 'उपंग' जैसा वाद्य जिसमें चमड़ा और तार भी लगे हैं, पहले से मौजूद है। यह एक ताल वाद्य है। इसी प्रकार गज से बजाये जाने वाले वाद्य सारंगी, रावणहत्था इसराज, आदि ऐसे हैं, जो तन्त्री वाद्य हैं, किन्तु इनमें चमड़ा भी प्रयुक्त होता है। पर ये स्वर वाद्य हैं। इन स्वर–वाद्यों में यद्यपि चमड़े का प्रयोग होता है किन्तु उनकी प्रकृति में इससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता और ये तन्त्री वाद्य बने रह सकते हैं। किन्तु 'उपंग' में 'ध्वनि उत्पादन' चमड़े से नहीं वरण तन्त्री से किया जाता है। और वह तन्त्री यहाँ स्वर की अपेक्षा लय और ताल को व्यक्त करती है। अवनद्ध वाद्यों के लक्षणों के अनुसार यह वाद्य उनसे कुछ भिन्न हो जाता है। इस प्रकार के वाद्य का उल्लेख महाकवि बाण के हर्षचरित में आया है जिसे वहाँ 'तन्ति पटहिका' कहा गया है। ढोल, ढोलक आदि को प्राचीन युग में 'पटह' कहा जाता था। यहाँ पटहिका से छोटी ढोलकी का भाव लिया जा सकता है । तार या ताँत (चमड़े के तार) लगे होने के कारण इसे 'तन्ति पटहिका' कहा जाता होगा।

आज गुपगुपी आनन्द लहरी अथवा गोपीजन्त्र का, जिसे मध्यकाल में उपंग कहा जाता था यही रूप दिखाई पड़ता है। यह वाद्य अपने विशेष लक्षण के कारण भिन्न वर्ग की अपेक्षा रखता है। इस वर्ग का कोई नया नाम न रखकर तत एवं अवनद्ध इन दोनों लक्षणों की उपस्थिति के कारण इन दोनो नामों को जोड़कर ही नया वर्ग बनाने की प्रथम कल्पना विमानवत्थु, में पायी जाती है जिसमें ऐसे वाद्यों के लिए आतत–वितत नाम रखा गया है।

''हमारे देश में मध्य युग के आसपास एक नवीन वाद्य जलतरंग का विकास हुआ'' ।[1]

---

(1) जल तरंग का नामोल्लेख अष्टछाप के कवियों द्वारा हुआ है तथा इसका शास्त्रोक्त वर्णन संगीत परिजात्, संगीत सार आदि में मिलता है।

संगीत–परिजात में इसे घन वाद्य के अन्तर्गत माना गया है। प्राचीन काल से यह बात विचारणीय है कि घन वाद्यों का प्रयोग ताल अथवा लय प्रदर्शन के लिए होता आया है। जल तरंग का प्रयोग अन्य स्वर वाद्यों के अनुरूप राग के अन्तर्गत गत अथवा गीत के वादन के लिए होता है। जल तरंग के प्याले चीनी मिट्टी के होते हैं इसलिए उसे प्यालों की घनता के कारण घन वाद्य में रखना अथवा डण्डी के प्रहार से वादन करने के कारण घन वाद्य मानना कुछ विशेष समझ में आने वाली बात नहीं है। लेकिन बाद में संगीतपयोगी ध्वनि उत्पन्न करने वाली वस्तुओं को उचित स्वरान्तरालों पर स्थिर कर उनका भी जलतरंग की भाँति प्रयोग किया जाने लगा और ऐसे सभी वाद्य तरंग के नाम से प्रसिद्ध हुए। जैसे– काष्ठ–तरंग, घुंघरू–तरंग, घंटा–तरंग, शीश–तरंग जल–तरंग, तबला–तरंग आदि। किन्तु इनसे से मृदंग –तरंग एवं तबला–तरंग जिनमें छोटे–बड़े मुखवाले अनेक तबलों तथा मृदंगों का ही प्रयोग होता है, अपने मूलरूप में अवनद्ध वाद्य हैं। सूक्ष्म अध्ययन से यह पता चलता है कि अब तक जितने तरंग –वाद्य प्रयुक्त होते रहे हैं उन सभी की मूल वस्तु या तो घन–वाद्य–वर्ग की है या अवनद्ध–वाद्य वर्ग की है। ये दोनो ही वर्ग ताल अथवा लय के लिए प्रयुक्त होते हैं किन्तु तरंग–वाद्य के रूप में इनका प्रयोग स्वरोत्पत्ति के लिए हो जाता है। इस प्रकार घन तथा अवनद्ध वाद्यों का मूल ढांचा लेकर जब इनका प्रयोग स्वरोत्पत्ति के लिए किया जाने लगता है, तब एक प्रकार से ये रूप तथा प्रकृति में अपने मूल–रूप से भिन्न हो जाते हैं।

सुषिर वाद्यों के मूल ढाँचे में ही स्वरोत्पत्ति के लिए वायु के ग्रहण, वहन तथा निष्कासन की व्यवस्था होती है।

संगीत जीवन के ताने–बाने का वह धागा है जिसके बिना जीवन सत् और चित् का अंश होकर भी आनन्दरहित रहता है तथा नीरस प्रतीत होता है। संगीत ईश्वरीय वाणी है, अतः वह ब्रह्मरूप ही है। प्राचीन काल से मनुष्य भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए

गीत, वाद्य और नृत्य को माध्यम बनाता आ रहा है। स्वर, ताल और लय मन और मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं, इसलिए संगीत को श्रेष्ठ कलाओं में गिना जाता है। इसका लक्ष्य धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरूषार्थो की प्राप्ति है। वाद्यों की उत्पत्ति का कारण देवाधिदेव शंकर हैं। दक्ष के यक्ष का विध्वंश करने के पश्चात उद्वेग को शान्त करने के लिए भगवान शंकर ने नन्दी, नारद, तुम्बुरू इत्यादि को वाद्य–निर्माण के लिए प्रेरणा दी फलस्वरूप वाद्यों का जन्म हुआ। "प्राचीन काल में मानव–कण्ठ को भी वाद्य माना गया है किन्तु कण्ठ–वाद्य ईश्वर निर्मित है, इसलिए मनीषियों ने मनुष्य निर्मित वाद्यों का ही अध्ययन, मनन तथा वर्णन किया है। आदि काल से मनुष्य किसी न किसी रूप में वाद्यों का प्रयोग करता आया है, जैसे–जैसे मनुष्य सभ्य, सुसंस्कृत होता गया उसके द्वारा प्रयुक्त वाद्य भी विकसित होते गये।"(1)

मानवता ने संस्कृति के प्रारम्भिक चरणों में ध्वनि उत्पन्न करने की विधियॉ सीखी होगी–चोट करने से, थपथपाने से, फूंकने से, हिलाने से, खरोंचनें से। ये सब क्रियाऐं अगणित युगों तक करने के पश्चात् ही वाद्यों के निश्चित रूप ही इसके परिणाम हैं।

पुरातन संगीत की असौन्दर्यात्मक प्रकृति, वाद्यों में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। पुरातन समय के वाद्यों की संख्या व प्रकार आश्चर्यजनक हैं। प्रकृति ने ऐसी सारी सामग्री जो उत्पन्न की है उसे किसी न किसी प्रकार के नाद–उत्पादक यन्त्र में प्रयुक्त कर दिया गया है।

समस्त प्रकृति वस्तुजगत गतिमान है। कम्पन्न न केवल हमारे हृदय में है अपितु शरीर का कण–कण सदैव कम्पित होता रहता है। और नियमित गति ही लय है, जो प्रबल–अबल की भावना की भी जननी है। घड़ी की टिकटिक को लगातार सुनने पर उसमें

---

(1) भारतीय संगीत वाद्य– (डा0 लालमणि मिश्र) पृ0–5

एक ध्वनि प्रबल तथा दूसरी अबल सुनाई पड़ने लगेगी। इस तरह कुछ ऐसी प्रबल तथा अबल ध्वनियाँ सुनाई पड़ेगी जो अपना समूह बनाती तथा एक–दूसरी से विभक्त होती रहती हैं, और हमारे कानों को तुष्टि प्रदान करती हैं। प्रबल–अबल गति–खण्डों का यह चक्र हमारे जीवन के चारों ओर सहस्त्रों रूपों में विद्यमान है।

भारतीय परम्परानुसार अन्य विषयों के समान संगीत का सम्बन्ध भी वेदों से माना गया है। संगीत का जन्म 'ओम' शब्द के गर्भ से हुआ। 'ओम् वेद का बीज मन्त्र है और एक मात्र ओम ही शब्दमय साक्षात् ब्रह्म है। मुख से उच्चारण होने योग्य प्रणव, यद्यपि अलौकिक प्रणव नाद का प्रतीक शब्द है तथापि वह केवल लौकिक सम्बन्ध में आविष्कृत नहीं हुआ है। तन्त्रों में यह प्रतिपादित है कि मुख से उच्चारण होने योग्य ओंकार ध्वनि ही अपूर्व रीति से आधार–पद से उठकर सहस्त्र दल स्थित पुरूष में लय हुआ करती है।

नाटय् शास्त्र रचयिता महर्षि भरत ने नाट्य का प्रारम्भ ब्रह्मा जी से ही माना है। ''भारतीय जनश्रुति के अनुसार वैवसक्त मन्वन्तर में त्रेता युग के लगने पर इन्द्र इत्यादि देवताओं ने भगवान ब्रह्मा से प्रार्थना की कि हम दृश्य एवं श्रव्य क्रीड़नीयक देखना चाहते हैं।''[1] भगवान ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठय, साम से गीत, युजर्वेद से अभिनय एवं अर्थवेद से रस लेकर नाटय् वेद की सृष्टि की''।[2] इतिहास पूर्वकाल में जो लय वाद्य थे वे साधारणतः नरमुंड, पत्थर, हड्डियाँ आदि के बने होते थे। प्राचीन हालस्टेट काल से लेटिन काल तक

(1) त्रेता युगे संप्रवृत्ते मनोवैवस्वतस्य च ।1।8।। भरत नाटयशास्त्र महेन्द्रप्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः। क्रीडनीयकमिच्छामों दृश्यं श्रव्यं चयद् भवेत।। ।। 1।।– भारतीय संगीत वाद्य –डा0 लालमणि मिश्र पृ0–22

(2) जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।।। ।।7।। भरत नाटय्शास्त्र– भा0 सं0 वा0 –डॉ0 लालमणि मिश्र, पृ0–22

जो वाद्य प्राप्त हुए हैं उनमें कंकड़ पत्थर डाले जाते थे तथा उन्हें हिलाकर उनकी आवाज के आधार पर उनका उपयोग लय धारणा के लिए किया जाता था। जानवरों के जबड़ों का उपयोग भी लय वाद्यों के रूप में किया जाता था। धीरे–धीरे मिट्टी के झुनझुने बनाना भी मानव ने सीखा। उसमें कंकड पथर डालकर ध्वनि से लय को धारण करना सीखा। उस ध्वनि को कुछ देर तक कायम रह सके तथा ऊँची और बड़ी और स्थिर भी हो अपना ध्यान लगाया जिसके फलस्वरूप उसने चमड़े को साफ करके उसे तानकर प्रहार कर इच्छित ध्वनि को प्राप्त किया।

नृत्यकला में भी संगीत का लय पक्ष ही प्रबल होता है। नृत्य कला वस्तुतः नाट्य और संगीत की सन्धि में स्थित है। एक ओर भावभंगिमाओं के कारण उसका सम्बन्ध नाटक से होता है तो दूसरी ओर लय और ताल का प्रबल आधार रहने के कारण वह संगीत के अन्तर्गत मानी जाती है। ''लेकिन कुछ भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों ने नृत्य को संगीत के अन्तर्गत नही माना है। उन लोगों का कहना है कि नृत्य न तो पूर्ण रूप से संगीत है और न नाटय् इसे स्वतन्त्र कला के रूप में ही स्वीकार करना ठीक होगा। इसी मत के प्रभाव में आधुनिक युग की सरकारी तथा अर्ध–सरकारी संस्थाओं में एकडेमी ऑफ डांस, ड्रामा एण्ड म्यूज़िक जैसे नाम रखे जा रहे हैं।''[1] लेकिन यहाँ तो यही प्रतिपादित करना है कि नृत्य में संगीत का केवल लय तत्व ही पाया जाता है।

संगीत के मूल तत्वों की दृष्टि में वाद्यकला यथार्थतः संगीत की पूर्णरूपेण प्रतिनिधि कला है। विभिन्न वाद्यों द्वारा उद्भूत स्वर तथा लय का निष्कलंक आनन्द प्राणी मात्र की निधि है, किन्तु उसका प्राविधिक आनन्द प्राप्त करने के लिए संस्कारों की आवश्यकता होती है और जिन लोगों में ये संस्कार होते हैं उन्हें वाद्य संगीत ही सर्वाधिक

---

(1) भारतीय संगीत वाद्य–डॉ० लालमणि मिश्र–वाद्यों का वर्गीकरण–पृ033

प्रिय होता है। वाद्य संगीत को सर्वाधिक महत्ता प्रदान करने का प्रयास उनका प्रयोग–विस्तार है। संगीत की परिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए वाद्य–संगीत किसी अन्य कला की अपेक्षा नहीं रखता। नृत्य, कण्ठ–संगीत, नाटय कला के लिए वाद्य संगीत का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। ''महर्षि भरत ने नाटक में वाद्य का विधान आवश्यक माना है उनका कहना है कि कोई ऐसा वाद्य नहीं जो नाटक के दसों भेदों में प्रयुक्त न हो सके, किन्तु नाटक के रस–भाव को देखते हुए ही उनका उपयोग करना चाहिए''।[1]

स्वरोत्पत्ति, स्वर स्थान का स्थिरीकरण, स्वरान्तरालों की नाप–जोख आदि कार्य बिना वाद्यों के पूरे हो ही नहीं सकते। प्राचीन काल से अब तक चाहे भारतीय परम्परावादी हो अथवा आधुनिक वैज्ञानिक, स्वरों के विश्लेषण के लिए प्रत्येक को किसी न किसी वाद्य का ही सहारा लेना पड़ा है। ''महर्षि भरत ने श्रुतियों के प्रत्यक्षीकरण के लिए एक समान बनी हुई दो वीणाओं का सहारा लिया है। वैज्ञानिक स्वरों की अपनी विवेचना के लिए टयूनिंग फॉर्क तथा मोनो कॉर्ड जैसे वाद्यों का प्रयोग करते हैं। अर्थात् संगीत–सम्बन्धी किसी भी विश्लेषणात्मक कार्य के लिए वाद्य का होना आवश्यक होता है। षड्ज ग्राम मध्यम ग्राम, चतुर्दश मूर्च्छनाएं, अष्टदश जातियों के स्वरूप आदि देखने और समझने के लिए वाद्यों का प्रयोग ही सर्वोत्तम है। मानव जब असभ्य था, तब वह अपने उद्गारों को प्रकट करने के लिए वाणी द्वारा कुछ अस्पष्ट शब्दों का उच्चारण करता था। उस समय वही वाणी उसकी कविता और वही अस्पष्ट शब्द अथवा ध्वनियुक्त स्फुरण उसका संगीत होता था और धीरे–धीरे इसका विकास हुआ और यही प्राकृतिक लोक–संगीत के नाम से जाना जाने लगा। वीरपूजा में अपने पूर्वजों का, पुत्रादि उत्सव, फसल तैयार होने पर एवं इसके अतिरिक्त कुछ अवसर

---

(1) नास्ति किंचिदनायोन्यमातोद्यं दशरूपके। रसभाव (वे) प्रयोग तु ज्ञात्वा योज्यं विधानतः।।– भ० न० अ० 34, श्लोक 17

मुण्डन, कर्ण–छेदन, ब्याह, उत्सव या मेले हुआ करते थे उनमें नाचना, गाना, बजाना उत्सव का मुख्य अंग होता था। लेकिन समय के साथ साथ ग्राम संगीत व वाद्यों में भी परिवर्तन और परिवर्धन हुए। गायकों ने अब समयानुकूल धुनों तथा उसके उच्चारण के ढंगों में परिवर्तन किये। संगीत में शान्त, वीर, करूण, और श्रृंगार रसों का अलग–अलग भावों के कारण अलग–अलग ढंग से विचार हुआ करता था। बाद में श्रंगार और शान्त रस के अनुरूप कुछ नये बाजे भी बने जैसे वेणु, पणव पटह आदि।

विभिन्न प्रकार के गीतों में अलग–अलग प्रान्तों की प्रकृति, बोलचाल, रहन–सहन, वेश–भूषा का अन्तर भी असर डालता रहा। भिन्न प्रदेशों में रहने वाले व्यक्तियों को जिस प्रकार का प्राकृतिक वातावरण मिला उसी के अनुसार उनकी बोल–चाल, वेशभूषा और आचार–व्यवहार में परिवर्तन होने लगा। अन्य प्रदेशों में भी विभिन्न भावयुक्त धुनों का प्रचलन हुआ उनमें अन्तर्निहित विलक्षणता का पता चल सका है। गीतों को लोक साहित्य के अन्तर्गत और उन गीतों की धुनों तथा उनके साथ–साथ प्रयुक्त वाद्यों को लोक संगीत के अन्तर्गत रखा जा सका है। संगीत के स्वर तथा लय का आनन्द समस्त प्राणियों को प्राप्त होता है। संगीत के इसी आकर्षण के सम्बन्ध में डा0 श्यामसुन्दर दास ने (पृष्ठ 18) में लिखा है "संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बहुत विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से सभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु–पक्षी भी का उसका अनुशासन मानते हैं।" [1]

लोक संगीत में वाद्यों का महत्व, शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। विशेष रूप से ताल वाद्यों का जिनके अन्तर्गत घन तथा अवनद्ध वर्गों के वाद्य आते हैं।

---

(1) भारतीय संगीत वाद्य–डॉ0 लालमणि मिश्र पृ0–357

चाहे लोकगीत हो या लोकनृत्य वाद्यों की आवश्यकता दोनों के लिए समान होती है। और इन गीतों व नृत्यों में प्राण डालने वाले वाद्य ही होते हैं जिसके बिना उक्त दोनो निष्प्राण प्रतीत होते हैं।

जिस समय आल्हा तथा फाग में ढोलक, नौटंकी में नक्कारा, 'तमाशा' में ढोलकी, कहारों के गाने में हुड़क वज उठते हैं तब लय के मदमाते झोंके मनुष्य के अंग–अंग को झुमा–झुमा देते हैं। ध्वनियों का वेग व नर्तकों के साथ–साथ दर्शकों के मन–प्राण भी उकलने लगते हैं जैसे मानो भगवान शंकर की ताल पर सारा ब्रह्माण्ड नाच रहा हो।

तन्तु वाद्य (या तत् वाद्य)

वेदों में सामवेद संगीत का वेद माना गया है। वास्तव में सामवेद मुख्य तथा ऋग्वेद के ऐसे मन्त्रों का संकलन है जो गेय हैं। 'गीतारूपा मन्त्राः सामानि' मन्त्रों को गेयत्व प्रदान करने के लिए उसमें आवश्यक परिवर्तन किये गये थे। इस प्रकार यज्ञादि कार्य के आरम्भ में सामगान की प्रथा डाली गयी। यह सामगान की प्रथा ही आगे चलकर संगीत शास्त्र की जन्मदाता बनी।

सामगायक मुख्य ऋत्विज होते थे। तथा उनके दो सहायक होते थे। सहायक ऋत्विज् हो ऽऽऽऽऽ आदि की मन्द्र ध्वनि तम्बूरे के रूप में ध्वनित करते रहते थे जिसको आधार मानकर ऋत्विज् सामगान करता था। मुख्य साम–गायक को 'उद्गाता' तथा सहायक को प्रस्तोता' अथवा 'प्रतिहर्ता' कहा जाता था। साम–गायक ऋत्विजों को सामान्य रूप से 'सामग' अथवा 'छन्दोग' कहा जाता था जिन्हें समस्त वेदों का उत्तम ज्ञान होता था। अतएव वेद कालीन सामगान, की परम्परा बड़ी विशाल थी। सामगान में 'वाण' नामक तन्तु वाद्य तथा वंश (वेणु) का वादन होता था। वेणु ही उस समय ऐसा वाद्य था जिसके स्वर स्थिर थे और उसी से वीणा मिलायी जाती थी यानि उसे ही आधार मानकर स्वर क्रम स्वीकार कर लिया गया।

सामगान में ताल की संगति के लिए प्रारम्भ में भूमि दुन्दुभी नामक चर्म–वाद्य का प्रयोग होता था। इसका निर्माण यज्ञ–मण्डप में भूमि खोदकर तथा उसके ऊपर बैल के चमड़े को मढ़कर करते थे तथा बैल की पूँछ से ही प्रहार करते थे। वैदिक वाङ्मय में भी संगीत वाद्यों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं होता फिर भी जो भी सामग्री प्राप्त होती है उससे हम उस काल में वाद्यों के विकास की स्थिति का ज्ञान भली प्रकार प्राप्त कर सकते हैं। वेदों में सुषिर वाद्यों में गोधा, नाली, तूणव, वाणिची वेणु, भाराधुनी, नालिका के नाम प्राप्त होते हैं। महाभारत काल में संगीत का उच्चस्तरीय तथा निम्नस्तरीय प्रयोग मिलता है। एक ओर संगीत ईश्वर–आराधना का माध्यम बना तो दूसरी ओर जनसाधारण के लिए मनोरंजन का साधन। उपर्युक्त उद्धरणों के द्वारा प्राचीन वाद्यों की स्थिति पर सामान्य प्रकाश डाला जा सकता है किन्तु इनमें संगीत–सम्बन्धी कोई ग्रन्थ न होने के कारण वाद्यों के रूप तथा उनकी वादन–विधि की जानकारी हमें सर्वप्रथम भरतकृत नाटय शास्त्र से प्राप्त होती है।

तन्तु वाद्य के अन्तर्गत सारंगी, कामाइचा इसराज, वीणा इकतारा, सितार, तानपुरा इत्यादि आते हैं।

सारंगी–

सारंगी का उल्लेख प्रथम बार संगीत शास्त्र में ''संगीतराज' में प्राप्त होता है। इसकी परिकल्पना 'रावणास्त्र' तथा 'रावणहस्त वीणा' से हुई है। यह लगभग दो फुट लम्बी होती है। इसमें तूम्बे के स्थान पर लकड़ी का बना हुआ पेट होता है, जो नीचे से चपटा तथा ऊपर से डमरू के आकार का होता है। वह लकड़ी को खोदकर बनाया जाता है तथा चमड़े से मढ़ दिया जाता है। इस पेट के मध्य में घुड़च लगायी जाती है। पेट के नीचे से आकर चार ताँत घुड़च पर होते हुए खूँटियों के ऊपर चली जाती है। इसको कमान की सहायता से बजाया जाता है। बायें हाथ की उँगलियों के नखों से ताँत को पार्श्व से स्पर्श कर

इच्छानुसार स्वर उत्पन्न करते हैं। इसमें परदें नहीं होते, केवल अभ्यास से ही स्वर उत्पन्न किये जाते हैं। सारंगी में तरब की ग्यारह खूँटियाँ सामने मस्तक पर रहती हैं तथा दक्षिण पार्श्व में तरब की चौबीस खूँटियाँ होती हैं। इसमें से कुछ पीतल के तथा कुछ लोहे के तार चढ़े रहते हैं। मस्तक पर तरब के तारों की जो खूँटियाँ होती हैं उनके लिए मेरू के पास ही छोटी–छोटी दो घुड़च रहती हैं जिन पर होकर उक्त ग्यारह तार नीचे आते हैं।

"सारंगी का विवरण 'संगीत नारायण' में भी बताया गया है। यह विवरण प्रायः सारंगी के समान है।"[1]

समय–समय पर इस वाद्य को सुचारू रूप से बजाने के लिए अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। सारंगी के अनेक रूप तो वर्तमान काल में भी दिखाई पड़ते हैं जिनमें मुख्य हैं– एक बिना तरबवाली और दूसरी तरबवाली। बिना तरबवाली सारंगी लोक–संगीत में तथा प्रायः योगियों द्वारा प्रयुक्त होती देखी जाती है तथा तरबवाली सारंगी गुणी साजिन्दे बजाते हैं।

कमाइचा :–

यह सारंगी की तरह का वाद्य है जिसकी तबली गोल होती है इसमें सत्ताइस तार होते हैं। स्वरों में गूँज और गम्भीरता के कारण कामाइचा की ध्वनि का प्रभाव कुछ अलग प्रकार का होता है। नाथ पंथी साधु कामाइचा पर भर्तृहरि एवं गोपीचंद की कथा के ही गीत गाते हैं।

वीणा :–

वीणा के कई प्रकार है यथा– अनालम्बी वीणा, अलाबुवीणा, आलापिनी वीणा, एक तन्त्री वीणा, कच्छपी वीणा, कात्यायनी वीणा, कलावती वीणा, किन्नरी वीणा, घोषवती वीणा, चित्रा वीणा, त्रितन्त्री वीणा, दण्डी वीणा, नकुली वीणा, तंजौरी या दाक्षिणात्य वीणा,

(1) भारतीय संगीत वाद्य – राग वर्गीकरण पृ0 –122 (डॉ0 लालमणि मिश्र)

परिवादिनी वीणा, पिनाकी वीणा, महती वीणा, ब्रह्म वीणा, मतकोकिला वीणा, इत्यादि।

एकतारा :—

यह वाद्य प्रायः साधु सन्तों के हाथ में देखा जाता है जो दाहिने हाथ की तर्जनी को छोड़ सभी उँगलियों से इसका दण्ड पकड़ते हैं तथा गाते समय तर्जनी से इसका तार छेड़ते जाते हैं। इनके बायें हाथ में छोटी कठताल रहती है जिससे वे ताल देते रहते हैं। कुछ लोग तर्जनी उँगली में मिजराब पहनकर भी तार छेड़ते हैं। इसके तार की छेड़ कुछ विशेष ढंग की होती है। उनके तार में कहरवा अथवा दादरा ताल के झोंके स्पष्ट सुनाई पड़े हैं।

प्राचीन एकतन्त्री का विधिवत् वादन होता था जिसमें मन्द्र, मध्य और तार के स्वरों को प्रकट कर वादक गान क्रिया के सभी तत्व सरलतापूर्वक निकाल लिया करते थे। किन्तु वर्तमान एकतारा केवल एक ही स्वर उत्पन्न करता है जिसे हम आधार स्वर मानकर गायन करते हैं।

लगभग छह इंच परिधि का मोटा तथा तीन फुट लम्बा बाँस का दण्ड बनाया जाता है जिसके ऊपरी सिरे से दो इंच छोड़कर सामने की ओर एक खूँटी लगायी जाती है जिसमें तार फँसा रहता है। नीचे लगभग चौबीस इंच व्यास का तुम्बा लगाया जाता है इस तुम्बे के मध्य भाग में दोनों ओर से ऐसा छिद्र बनाते हैं जिससे बाँस का दण्ड तुम्बे के गर्भ में प्रवेश कर अन्तिम छोर से दूसरी ओर निकल आए। दण्ड और तुम्बे में मजबूती के लिए सरेस आदि चिपकाने वाला मसाला लगाकर उसकी अतिरिक्त जुड़ाई भी कर दी जाती है। तुम्बे का ऊपरी भाग लगभग इक्कीस इंच की गोलाई से काटकर निकाल देते हैं तथा इस स्थान पर पतली खाल मढ़ देते हैं। खाल को पानी में भिगोकर, उसे चारों ओर से खींचकर तुम्बी के ऊपर रखकर फूलदार कीलों से मढ़ देते हैं। एकतारा में फौलाद का दो या तीन नम्बर का तार चढ़ाया जाता है जो एक छोर पर खूँटी से बंधा होता है तथा दूसरे छोर पर

दण्ड के उस भाग में बँधा होता है जो तुम्बे के गर्भ से होता हुआ लगभग डेढ़ इंच बाहर निकला रहता है।

एक तार के कई रूप वर्तमान समय में देखे जाते हैं किन्तु महाराष्ट्र का तुणतुणे बंगाल की गुपगुपी विशेष उल्लेखनीय है।

इसराज :–

"इसराज का नाम प्राचीन ग्रन्थों में नहीं होता किन्तु यह विदेशी वाद्य नही है।"(1)

इसराज का निर्माण सारंगी और सितार को ध्यान में रखते हुए ही किया गया है। इसराज का दण्ड, दण्ड पर परदों की व्यवस्था तथा मुख्य तारों की व्यवस्था सितार के समान ही होती है। केवल की तबली के स्थान पर इसमें खाल चढ़ी होती है। चूँकि वादन ग़ज से होता है इसलिए इसके पेट की बनावट तथा घोड़ी रखने की व्यवस्था सारंगी के समान होती है। डॉड के नीचे के भाग में जहाँ सितार में तुम्बा लगता है, लकड़ी के कुन्दे को भीतर से खोखला करके डॉड के साथ जोड़ देते है इसे खोल कहते है। मयूरी, इसराज का एक भेद है जिसमें सादी खोल न बनाकर मयूर का आकार बना देते हैं। तबली के इस चमड़ें के ऊपर जिस स्थान पर घोड़ी रखी जाती है उस स्थान पर एक दूसरे चमड़े की पट्‌टी लगाकर उसे खोल की लकड़ी से दोनों सिरों पर जड़ देते हैं जिसके कारण घोड़ी का दबाब तबली के चमड़े की छोटी पट्‌टी उस सिरे पर भी लगा दी जाती है जहाँ घोड़ी से तार होता हुआ लॅंगोट की ओर जाता है और चमड़े को स्पर्श करता है। इसमें चार खूटियाँ होती है। जिनमें बजने वाले चार तार चढ़ाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें 15 तरफ के तारो की

---

(1) इसराज ताउस तथा मयूरी वीणा के नाम शरमाये अशरत, मादनुल मुसीकी, म्यूज़िक ऑफ इण्डिया (अतिया बेगम) आदि में प्राप्त होते हैं।

छोटी–छोटी खूँटियाँ होती है। तरफ की खूँटियाँ लकड़ी की एक अतिरिक्त पट्टी को दण्ड के दक्षिण पार्श्व में जड़ देते हैं इसकी खूँटियाँ ऊपर की ओर उठी रहती है।

इसराज की घोड़ी पतली हड्डी के एक ही टुकड़ें से बनायी जाती है जो सवा दो इंच लम्बी तथा सवाइंच ऊपर उठी हुई होती है। इसका ऊपरी भाग, जहाँ से मुख्य तार गुजरते हैं, चन्द्राकार होता है जिसका बीच का भाग उठा हुआ तथा दोनों किनारे क्रमशः नीचे गिरे हुए होते हैं जिसके कारण गज के द्वारा वांछित तार बजाना सम्भव होता है। इसराज का गज लगभग सवा फुट लम्बा तथा सवा दो इंच वृत्त की मोटाई का होता है। इसमें लगे हुए बालों की लम्बाई पौने दो फुट के लगभग होती है। इसमें घोड़े के काले बाल लगाये जाते हैं।

तानपूरा :–

तानपूरा जिसे तम्बूरा भी कहा जाता है। तानपूरा दो प्रकार के होते हैं– जिन्हें महिलाओं का तम्बूरा तथा पुरूषों का तम्बूरा कहते हैं। दोनों तम्बूरे की बनावट में अन्तर केवल आकार और तारों के नम्बर के आधार पर होता है। पुरूषों के निमित्त जो तम्बूरा बनायाजाता है वह महिलाओं के तम्बूरे की अपेक्षा बड़ा होता है तथा इसमें तार भी मोटे लगाये जाते हैं। "कुछ विद्वानों ने तम्बूरे के दो रूप माने– निबद्ध और अनिबद्ध। निबद्ध तम्बूरे में परदे बंधे रहते है। तथा अनिबद्ध बिना परदों का होता है।"[1]

तानपूरे के तीन भाग है– पहला खूँटियों वाला भाग, दूसरा मध्य भाग– जहाँ से वादन क्रिया होती है तथा तीसरा वह भाग जहाँ तबली होती है। तम्बूरे में चार तार होते हैं जो पीतल और लोहे के होते हैं। खूँटियों तथा वादन–क्रिया वाला समस्त भाग दण्ड कहलाता है जो भीतर से खोखला होता है। दण्ड का यह सम्पूर्ण भाग लगभग 40 से 42 इंच लम्बा होता है। जहाँ घुड़च रखी जाती है वह भाग भी सितार की भाँति ही होता है किन्तु

इसका तुम्बा सितार की अपेक्षा बड़ा होता है। तथा उसके ऊपर की तबली भी सितार की अपेक्षा कुछ मोटी तथा किनारे से मध्य क्षेत्र की ओर क्रमशः ऊपर को उठी हुई होती है। तुम्बें के पिछले भाग में लकड़ी का गुल बनाया जाता है। यह गुलू पहले तुम्बे से मजबूती से जोड़ दिया जाता है। जब यह एक ओर तुम्बा से भली प्रकार जुड़ जाता है तब उसके दूसरे छोर पर, जहाँ दण्ड को प्रवेश करने के लिए नाली के समान आकार बना देता है दण्ड का कुछ भाग तुम्बा के भीतर की ओर डालकर जोड़ दिया जाता है और उसके ऊपर से तबली जोड़ दी जाती है। गुलू का जो भाग तुम्बे से जुड़ा होता है वही लकड़ी के कटावदार सुन्दर पत्ते बनाकर तुम्बे पर इस प्रकार चिपका देते हैं जिससे वे पतियाँ भी गुलू का ही एक अंग बन जाती है। तम्बूरे में एक तार गहन तथा एक पचीसा लगाया जाता है जो दण्ड के ऊपर से क्रमशः साढ़े आठ तथा साढ़े नौ इंच दूरी पर होता है इसी के भीतर तथा ऊपर से होते हुए चारों तार घुड़च की ओर जाते हैं। तम्बूरे की घुड़च यद्यपि सितार की ही जैसी होती है किन्तु इसकी हड्डी ऊँट की होती है। तथा इसका दल भी मोटा होता है। तानपूरे की घुड़च दण्ड तथा तबली के समान दोनो किनारों पर क्रमशः ढाल होती है। यह घुड़च लगभग साढ़े तीन इंच लम्बी तथा पौने दो इंच चौड़ी होती हैं जो पौन इंच ऊँचे लकड़ी अथवा हड्डी के पायों पर जमा दी जाती है। इस प्रकार की बनी हुई घुड़च के ऊपर से चारों तार होते हुए तुम्बा और तबली के जोड़ स्थान पर बने लकड़ी के लॅगोट के छिद्रों में प्रवेश कराकर बॉध दिये जाते हैं। घुड़च के ऊपरी भाग, जहाँ तार रखे जाते हैं, पर हड्डी का ढलाव इस प्रकार बनाया जाता है जिससे उसमें झंकार की मात्रा बढ़ सके तथा वह झंकार ध्वनि के प्रारम्भ से अन्त तक एक–सी बनी रहे। तम्बूरे की झंकार जवारी खोलने के बाद उसमें लगे प्रत्येक तार के नीचे एक पतला धागा लगाने पर होती है बिना धागा लगाये उसमें झंकार नहीं होती।

---

(1) राधा गोबिन्द –संगीत सार

धागा लगाने के बाद उसे उस स्थान पर ले जाया जाता है जहाँ से उसमें अधिकतम झंकार हो सके।

सितार :–

सितार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अब तक अनेक भ्रान्त धारणाएं संगीतज्ञों तथा संगीत प्रेमियों में विद्यमान है। कुछ लोगो का मानना है कि सितार अमीर खुसरों की ईजाद है तो कुछ मानते हैं कि यह ईरानी अथवा पर्शियन वाद्य है तो कुछ मानते हैं कि यह नितान्त आश्चर्य की बात है कि अमीर खुसरों ने आधुनिक युग के सर्वाधिक प्रचलित तत् वाद्य सितार को बनाया। अवनद्ध वाद्य तबला को बनाया तथा शास्त्रीय संगीत की ख्याल शैली का भी अविष्कार किया। सितार को प्राचीन समय में 'स्नेह तार' भी कहा जाता था। सितार का विकास तेरहवीं अथवा चौदहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। उसके पहले भारत में एकतन्त्री तथा किन्नरी वीणा का सर्वाधिक प्रचार था। वीणा के आधार पर प्राप्त सामग्री का वादन सितार पर सन्तोषप्रद सिद्ध न हो सका इसलिए सितार के लिए वादन की नयी शैली 'गत' का विकास हुआ जिसमें सितार को गान से पृथक ले जाकर उसे केवल तन्त्र के रूप में प्रयोग करने की प्रथा सेनियों ने ही चलायी। सितार में प्रयुक्त हो सकने वाली गतों के निर्माण कर्ताओं में निहाल सेन के बेटे अमीर खाँ जिनके नाम से अमीरखानी चली, मसीत खाँ, जिनके नाम से मसीतखानी चली इनके शिष्य बरकतुल्ला खाँ, सेनी घराने के ही बहादुर खाँ, सेनी घराने के शिष्य गुलाम रजाँ खाँ जिनके नाम पर रजाखानी चली, मुख्य थे। ये सभी उस्ताद अठारहवीं शबाब्दी के उत्तरार्ध से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक हुए हैं।

सितार की लम्बाई साधारणतः तम्बूरे की तरह होती है किन्तु आकार में ये तम्बूरे से छोटा है। उसकी लकड़ी की नली से रेशमी डोरा, ताँत, चाँदी , पीतल आदि के तारों से सत्रह परदे होते हैं।

वर्तमान समय में सितार देश का सर्वाधिक प्रचलित वाद्य है। इसकी प्रगति के कारण इसके रूप में सुधार तथा वादन–सामग्री में परिवर्तन ही है।

सितार के दो बाज प्रचलित थे– मसीतखानी और रजाखानी। सितार में प्रयुक्त होने वाली विलम्बित तथा द्रुत गतें तीन ताल में ही बजायी जाती है। पर कुछ अच्छे कलाकारो को ताल का यह रूप खटकता एवं सीमित लगा, जिसके फलस्वरूप उन्होनें रूपक, झपताल, आदि में भी गतें बजाना प्रारम्भ किया।

सितार दो प्रकार के बनते है– एक वे जिनमें मुख्य तारों के अतिरिक्त 'तरब' के तार नहीं होते। दूसरे वे जिनमें मुख्य तारों के साथ 'तरब' के तार भी होते हैं। सितार का ढाँचा, दण्ड, तबली गुलू, खूँटी, तुम्बा, आदि से बनता है। दण्ड में परदे, बँधे होते है तथा तारो को बाँधने के लिए खूँटियाँ लगायी जाती है। दण्ड बनाने के लिए कई प्रकार की लकड़ियॉ होती हैं पर शीशम को अच्छा समझा जाता है। शीशम से उत्तम 'तुन्' है किन्तु सर्वोतम टीक, विशेषतः बरमा टीक समझा जाता है।

दण्ड की लम्बाई चौंतीस इंच होती है। किसी किसी सितार में दण्ड एक – दो इंच छोटा अथवा बड़ा भी होता है। इसकी चौड़ाई साढ़े तीन इंच के लगभग होती है। दण्ड के ऊपरी भाग, जिस ओर परदे लगे रहते हैं तथा उसके पीछे का भाग, जिस ओर ताँत अथवा धागे का बंधाव रहता है, दोनों ही लकड़ी के अलग–अलग हिस्से होते हैं जिन्हें आवश्यकतानुसार खराद एवं तराश कर जोड़ दिया जाता है।

दण्ड के नीचे ऊपरी भाग में तबली तथा निचले भाग में गुलू और तुम्बा रहता है। तबली प्रायः साढ़े बारह इंच से चौदह इंच तक चौड़ी होती है। तबली के अनुरूप ही तबली के लगभग मध्य में रखी गयी घुड़च के ऊपर से सभी तार भिन्न–भिन्न धातुओं तथा भिन्न–भिन्न मोटाइयों के होते हैं। तबली के ऊपरी भाग में तबली की लकड़ी को तराश कर

भिन्न–भिन्न प्रकार की पत्तियाँ तथा बेलें बनायी जाती हैं। तबली के पीछे तुम्बा और तुम्बे के ऊपर गुलू होता है। गुलू लकड़ी का वह मोड़दार हिस्सा है जो तबली और तुम्बे को जोड़ने में सहायक होता है। गुलू को पहले तुम्बे से जोड़ते हैं। फिर उसमें दण्ड का लगभग दो से ढाई इंच तक भाग डालकर ऊपर से तबली जोड़ देते हैं। सितार का यह जोड़ अपना एक विशेष महत्व रखता है। इस प्रकार सितार का ढॉचा तैयार हो जाने पर उसकी सजावट के लिए सेलोलाइट, हड्डी अथवा हाथीदाँत पर भिन्न–भिन्न प्रकार के फूल–पत्तियों की बेलें बनाकर सितार की लकड़ी में चिपका देते हैं, किन्तु इस प्रकार की सजावट यदि आवश्यकता से अधिक हो जाती है तो उस सितार की गूँज नष्ट होने का भय होता है।

अवनद्ध–वाद्य

प्राचीन काल में भारत में विभिन्न प्रकार की संगीत पद्धति थी। मुस्लिम तथा मुगल लोग उत्तर पश्चिम दिशा से भारत में आये इस कारण उनकी संस्कृति का अधिक प्रभाव उत्तर भारत पर पड़ा। भारतीय संगीत पर एवं उसी प्रकार वाद्यों पर भी मुस्लिम एवं मुगल संगीत का प्रभाव पड़ा।

अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग शास्त्रीय एवं लोक संगीत दोनों के साथ किया जाता है। लोक संगीत के साथ–साथ लोक–ताल वाद्यों का भी विकास हुआ तथा एक ही प्रकार के वाद्यों को अलग–अलग आकृति एवं नाम प्राप्त हुए।

वे सभी वाद्य जो चमड़े से मढ़े होते हैं, अवनद्ध वाद्य कहलाते हैं। जिनको हाथ या किसी अन्य माध्यम से थाप लगाकर बजाया जाता है उन्हें आनद्ध या वितत वाद्य कहते हैं। वितत का तात्पर्य है– तांत या तार से रहित वाद्य जैसे– ढोल, ढोलकी, नगाड़ा आदि।

मृदंग :–

"भारतीय संगीत के उपलब्ध आदि संगीत ग्रन्थ भरतकृत नाटय–शास्त्र में भरत मुनी ने लिखा है कि मृदंग (जिन्हें पुष्कर भी कहा जाता है) समान अवनद्ध वाद्य के निर्माता स्वाति तथा नारद हैं। इस के सन्दर्भ में भरत कहते हैं 'एक बार स्वाति मुनि अनध याय के दिन आकाश में बादल छाये हुये होने पर जल लाने के लिए एक सरोवर पर गये। सरोवर में जल लेने को उतरे तो इन्द्र ने पृथ्वी पर सागर बना डालने के विचार से) मूसलाध ार वर्षा आरम्भ कर दी। उस सरोवर में वायू के वेग से छोटी–और बड़ी बूंदों के कमल के पत्तों पर गिरने के कारण भिन्न–भिन्न किन्तु मधुर ध्वनियां होने लगी। मुनि ने इस अपूर्व ध्वनि को जेष्ठ मध्यम और कनिष्ठ प्रकार के विभाजन पर विचार कर विश्वकर्मा की सहायता से, इन ध्वनियों के आधार पर 3 प्रकार के मृदंगों का निर्माण किया। इसे पुष्कर नाम दिया। ये अलग–अलग ध्वनि धारण युक्त 3 मृदंग ही त्रिपुष्कर कहलाये।

–(ना0 शा0 अध्याय 33 श्लोक 5 से 10)

यद्यपि वेदों में मृदंगादि चर्म वाद्यों का उल्लेख नहीं है। मृदंग समान वाद्य होने का प्रमाण हड़प्पा व मोहनजोदड़ों नगरों के उत्खनन से प्राप्त अवशेषों में मिलते हैं। महाभारत में भी मृदंग तथा मुरज के प्रयोग का उल्लेख है। बाल्मीकि रामायण के सुन्दर काण्ड सर्ग 11 में मृदंग तथा मुरज दोनो वाद्यों का उल्लेख किया गया है। "शारंगदेव ने मुरज तथा मर्दल को मृदंग का पर्याय माना है।[1] "स्वयं महर्षि भरत ने चौतीसवें अध्याय में एक स्थान पर कहा है कि सुख प्रदन करने वाली –मांगलिक होने के कारण इसे मृदंग कहते

---

(1) निगदन्ति मृदङ्गं तं मर्दलं मुरजं तथा। प्रोक्तं मृदङ्गशब्देन मुनिना पुष्करत्रयम्।।1027।।–संगीत रत्नाकर, वाद्याध्याय। एवं विलक्षणयुक्तं मृदङ्गमाहुः। तस्यैव पर्यायोमर्दलमुरजाविति।। (सु0 टीका)–संगीत रत्नाकर पृ0–459 प्रोक्तमिति मुनिना भरतेन पुष्करत्रययुक्तम्।।–सं0र0 वाद्याध्याय पृ0459

हैं। मुलायम मिट्टी से बनी हुई होने के कारण इसे मुरज कहते हैं। भ्रमण करने वाली होने के कारण इसे माण्ड कहते हैं तथा पीटकर बजायी जाने के कारण इसे आतोद्य कहते हैं।"[1]

भरत के समय मृदंग के तीन भाग थे जैसे आज तबले के दो भाग हैं। उन्होंने उसके वादन क्रिया की अनेक विधियों का वर्णन किया है। महर्षि भरत ने मृदंग का जिस प्रकार वर्णन किया है वह सामान्यतः भ्रामक प्रतीत होता है। क्योंकि एक ओर तो उन्होंने मृदंग के तीन रूप बताये हैं। (1) हरीतकी (2) यवाकृति तथा (3) गोपुच्छा"[2]

जिससे ये तीनों मृदंग के ही रूप भेद प्रतीत होते हैं, किन्तु उसके बाद ही "उन्होंने यह भी कहा है कि आंकिक का हरीतकी के समान, उर्ध्वक का यवा के समान तथा आलिंग्य का गोपुच्छा के समान रूप होता है"।[3]

मृदंग के तीन हिस्से में से उसका वह भाग जो लेटा रहता था उन खड़े रहने वाले भागों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता था। मृदंग का आंकिक भाग ही प्रमुख था।

मृदंग में लगने वाला चमड़ा नया होना चाहिए। चमड़े का रंग नवीन पल्लव के समान श्वेत एवं चमकदार होना चाहिए। ऐसे चमड़े को रोम–रहित कर एक रात पानी में भिगोकर रखा जाए तथा दूसरे दिन उसे निकालकर खूब मर्दन किया जाए, उसके बाद मृदंग पर चढ़ाया जाए।

"नाट्य शास्त्र में इसके वादन का विधान है कि, इसमें सोलह अक्षर, चार मार्ग, विलेपन, षटकरण, त्रियति, त्रिलय, त्रिगति, त्रिप्रकार, त्रिसंयोग, त्रिपाणि, पंच, पाणि–प्रहंत,

---

(1) अतोद्यं तोदनात्। अभिनव गुप्ताचार्य, नाट्यशास्त्र, पृ0 460

(2) त्रिधाकृतिर्मृदङ्गानां हारीतकयवाश्रया तथा गोपुच्छरूपा च भवन्त्येषां च रूपतः ।। भ0 ना0, 34 1254

(3) हरीतका (कया) कृतिस्त्वङ्को यवमध्यस्तथोर्ध्वगः। आलिङ्गश्चैव गोपुच्छः आकृत्या संप्रकीर्तित।। वही, 1255

त्रिप्रहार, त्रिमाजीना, अठारह जातियाँ तथा बीस अलंकार होते हैं।"[1]

"पुष्कर वाद्यों में प्रयुक्त होने वाले अक्षर निम्नलिखित है क ख ग घ, ट ठ ड ढ़ त थ द ध म र ल ह उपर्युक्त अक्षरो में क ख त थ मा (ट ढ त ख रा) आंकिक के दक्षिण मुख से घ म ह आंकिक के वाम मुख से , ग द क र ऊर्ध्वक से, द ठ डो ण (ख ठ ड, ध) ला आलिंग्य से निकाले जाते है "। [2]

"आंकिक, ऊर्ध्वक, तथा आलिंग्य के प्रयोगों की नाटयशास्त्र में चार विधियाँ बतायी हैं जिन्हें अड्डित, आलिप्त, वितस्त तथा गोमुखी कहा गया है।"[3]

त्रिगतं त्रिप्रका (चा) रं च त्रिसंयोगं त्रिपाणिकम्।

दर्शार्धपाणिप्रहतं त्रिप्रहारं त्रिमार्जनम्।। वही–34/ 3 7

विंशत्यलङारयुतं तथाष्टादश जाति कम्।

एभिः प्रकारेः सम्पन्नं वाद्यं पुष्करजं भवेत।। – वही, 34/38

प्राचीन काल में मृदंग –वादन के पांच प्रकार के हस्तप्रहार प्रचलित थे, जिन्हें पंचपाणि के नाम से जाना जाता था।

(1) सम–पाणि –समतल हथेली से प्रहार करना

---

(1) षोडशाक्षरसम्पन्नं चतुर्मांग तथैव च। वि (द्वि) लेपनं षट्करनं त्रियति त्रिलयं।। भ0 ना0 शा; 34/36

(2) क ख ग घ ट ठ ड ढ त थ द ध म र ल ह इति षोडशाक्षराणीह

नियतं पुष्करवाद्यें वाक्करणैः सं विधेयानि।। वही– 34 /39

(3) चतुर्मांग यदुक्तं तमनुव्याख्यास्यामः।

अड्डितालिप्त मार्गे (गा) तु वितस्ता गोमुखी तथा । मार्गाश्चत्वार एवैते प्रहारकणाश्रयाः ।। 48।। भ0 ना0 शा0, 34/48

त्रिप्रहार, त्रिमाजीना, अठारह जातियाँ तथा बीस अलंकार होते हैं।''[1]

''पुष्कर वाद्यों में प्रयुक्त होने वाले अक्षर निम्नलिखित है क ख ग घ, ट ठ ड ढ़ त थ द ध म र ल ह उपर्युक्त अक्षरो में क ख त थ मा (ट ढ त ख रा) आंकिक के दक्षिण मुख से घ म ह आंकिक के वाम मुख से , ग द क र ऊर्ध्वक से, द ठ डो ण (ख ठ ड, ध) ला आलिंग्य से निकाले जाते है ''। [2]

''आंकिक, ऊर्ध्वक, तथा आलिंग्य के प्रयोगों की नाटयशास्त्र में चार विधियाँ बतायी हैं जिन्हें अड्डित, आलिप्त, वितस्त तथा गोमुखी कहा गया है।''[3]

त्रिगतं त्रिप्रका (चा) रं च त्रिसंयोगं त्रिपाणिकम्।

दर्शार्धपाणिप्रहतं त्रिप्रहारं त्रिमार्जनम्।। वही–34 / 3 7

विंशत्यलङारयुतं तथाष्टादश जाति कम्।

एभिः प्रकारेः सम्पन्नं वाद्यं पुष्करजं भवेत।। – वही, 34 / 38

प्राचीन काल में मृदंग –वादन के पांच प्रकार के हस्तप्रहार प्रचलित थे, जिन्हें पंचपाणि के नाम से जाना जाता था।

(1) सम–पाणि –समतल हथेली से प्रहार करना

---

(1) षोडशाक्षरसम्पन्नं चतुर्मार्ग तथैव च। वि (द्वि) लेपनं षट्करनं त्रियति त्रिलयं।। भ0 ना0 शा; 34 / 36

(2) क ख ग घ ट ठ ड ढ त थ द ध म र ल ह इति षोडशाक्षराणीह

नियतं पुष्करवाद्यें वाक्करणैः सं विधेयानि।। वही– 34 / 39

(3) चतुर्मार्ग यदुक्तं तमनुव्याख्यास्यामः।

अड्डितालिप्त मार्गे (गा) तु वितस्ता गोमुखी तथा । मार्गाश्चत्वार एवैते प्रहारकणाश्रयाः ।। 48 ।। भ0 ना0 शा0, 34 / 48

(2) अर्ध–पाणि –आधी हथेली से प्रहार करना

(3) अर्धार्धपाणि –एक चौथाई हथेली से प्रहार करना

(4) पार्श्व – पाणि – हथेली के पार्श्व से प्रहार करना

(5) प्रवेशिनी – उँगलियों के अग्र भाग से प्रहार करना

इन पाँच प्रकार के प्रहारों के तीन रूप थे–

(1) नियन्त्रित – ऐसा प्रहार करना जिससे ध्वनि हो किन्तु गूँज न हो। आधुनिक मृदंग के 'क, किट' आदि बोलो के समान।

(2) अर्ध–नियन्त्रित – ऐसा प्रहार करना जिससे ध्वनि अर्ध –गुंजित हो। आधुनिक तबले में 'न' का बोल ऐसी ही है

(3) मुक्त –ऐसा प्रहार करना जिससे ध्वनि पूर्ण गूँज युक्त हो। आधुनिक मृदंग में 'ग, ता, दिं' आदि ऐसे ही बोल हैं।

भारतीय अवनद्ध वाद्यों के रूप तथा उनकी वादन सामग्री जो मूल रूप में ही पर्याप्त विकसित थी, क्रमशः और अधिक विकसित हो गयी। इस प्रकार प्राचीन काल से अब तक मृदंग के पाटाक्षरों के निर्माण में चार बार परिवर्तन हो चुका है। नीचे मृदंग के प्राचीन मध्य और वर्तमान बोलों के कुछ उदाहरण दिये गये हैं –

प्राचीन बोल –1– मटकत धिघघट घेघ घोट्ट मंघि घंघन धि घि

2–धड गुटु गुटमघे दो घिं घ दुधि दुधेंधि।

3–किं का किटु भेद कितां किंकेकितांद तसितां गुटुग।

(4) माद्धि कुट घेघेमत्थिद्धिध खुखुणं धे घोटत्थिमट।

मध्यकालीन बोल :– (1) ननगिड। गिडदगि।।

(2) ननग्डिदिं

(3) नखु नखुं।।

(4) ख च ट किट ।।

(5) घिकट घिकट।

(6) थों गिणि। थों थां गि।

(7) थि र कि थों।।

(8) नगि झें नगि झें ।। आदि

वर्तमान बोल :— धुमकिट धुमकिट तकिटत का, किट

धुमकिट धुमकिट तकिटत का, किट

धुमकिट तकधुम किटतक गदिगन

धा देत् देत् धुमकिट तकधुम

किटतक गदिगन धा देत् देत्

धुमकिट तक धुम किटतक गदिगन

मृदंग का ढाँचा खैर या रक्त चन्दन का काठ लेकर कुशल कारीगर से बनवाना चाहिए। इसका मध्य साढे इक्कीस अंगुल मोटा और लम्बाई बारह मूठ होंनी चाहिए। दाहिना भाग चौदह अंगुल मोटा और बायां तेरह अंगुल का हो। फिर उसमें लोहे या काठ के कड़े दोनो मुखों पर चढ़ाया जाना चाहिए। इन कड़ों में एक अंगुल के अन्तर से बीस–बीस छेद होने चाहिए। दोनो मुख चाम से मढ़कर उस चाम को कड़े से लपेट दीजिए। कड़े के छेदों में चाम की डोरी डालकर उन्हें खींचकर चाम को कसिए। दाहिने मुख के चमड़े में छह अंगुल प्रमाण से गोलाकार लौहचूर्ण जमाइए। बायें मुख के चाम में, जब बजाना हो तब गेहूँ के चून की छह अंगुल की पूरी पानी से मांड़कर लगाइए।

मृदंग का बाकी हिस्सा :— इस मृदंग के तीनों हिस्सों में से मध्य के हिस्से में ब्रह्मा

का वास है, बायें मुख में विष्णु का, दाहिने मुख में श्री शिव का और मृदंग के काठ कड़ा आदि में तैंतीस कोटि देवता वास करते हैं। इसी से इसका नाम सर्वमंगल है।

तबला :–

तबला शब्द की व्युत्पत्ति फारसी के तब्ल से मानी जाती है जिसका अर्थ है– जिस वाद्य का मुख ऊपर की ओर हो तथा जिसका ऊपरी भाग सपाट हो। तबला की व्युत्पत्ति कुछ विद्वानों ने भरत कालीन दर्दुर वाद्य से मानी है। दर्दुर वाद्य भी चमड़े से मढ़ा हुआ घट था जिसका मुख ऊपर की ओर था किन्तु वह दो भागों में न था। वास्तव में तबले का विकास प्राचीन मृदंग से ही हुआ है। प्राचीन काल में गायन वादन, नर्तन के वजन के अनुसार वादक को ठेके स्वयं बांधना पड़ते थे। अनुमान है कि ध्रुपद गायकी के प्रचार–प्रसार के साथ–साथ 15वीं सदी में तालों के ठेकों का जन्म हुआ होगा। इन तालों के ठेकों को बार–बार संगत में प्रयुक्त किये जाने से वे सभी ठेके जो एक बार विकसित हुये, परम्परा से अगली पीढ़ी के लिए प्रमाण बन गये। यद्यपि तबले की भाषा का आधार मृदंग की भाषा ही रहा तथापि तबले के दायें बायें से निकलने वाले, धुमकदार स्पष्ट तथा मुदु ध्वनि के कारण तबले की भाषा कालान्तर से मृदंग की अपेक्षा अधिक प्रभावी हुई और यह मृदंग के वादन करने में भी सुविधाजनक रहती है। भिन्न–भिन्न प्रांतो में तबले की भाषा भिन्न–भिन्न रही परन्तु बोलों के निकास में बहुत कुछ साम्यता बनी रही। तबले पर अलग–अलग प्रान्तों के अलग–अलग उच्चारण दिये जा रहे हैं :– यथा

धिनतक– महाराष्ट्र, बनारस, दिल्ली

धेनतक – पूरब, फरूखाबाद, अजराड़ा

धैणतक – पंजाब, लाहौर, करॉंची

वर्तमान में ध्रुपद गायन शैली जैसे गम्भीर गायन की अपेक्षा ख्याल–गायन एवं

सुगम संगीत का अधिक प्रसार होने से तबला वादन अधिक प्रचार में आया है। यह वाद्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर सुविधा जनक ले जाया जा सकता है। तबला दो अंगों का एक मुखी वाद्य है। एक दायां तथा दूसरा बायां। दायां अंग आमतौर पर शीशम, आम, खेर, बिजमार आदि वृक्षों की लकड़ी से बनाया जाता है। इस वाद्य की ऊँचाई 1 फुट होती है। स्वर के अनुसार ऊँचाई तथा मुख की चौड़ाई (व्यास) में अन्तर रहता है। लकड़ी को खोखला कर एक तरफ मुँह खुला रखा जाता है। बायें का अंग सुपाड़ी के आकार का होता है इसके भी एक मुख होता है। इसकी कुंडी (अंग) मिट्टी या धातु से बनती है। बायें तथा दायें के मुख पर चमड़े से मढ़ी पुड़ी लगाई जाती है। प्रत्येक पुड़ी में लगे 3 चमड़े के पर्तो में से ऊपर की तथा नीचे की पर्त को किनारे से 2 तथा 1 इंच छोड़कर गोलाकार काट लिया जाता है। ऊपर के चमड़े की तथा नीचे के चमड़े की 1 इंच किनारे सहित उसे गजरे में गूँथ कर गजरे के छेदों में से बद्धी डालकर तली में लगे कड़े में फंसाकर अंग से कस दिया जाता है। दोनों पुड़ियों पर मसाले से बनी स्याही लगा दी जाती है। (दायें के बीचो बीच तथा बायें से थोड़ा हटकर) दाये के पुड़ी का चमड़ा बकरी का तथा बायें का चमड़ा बकरे का होता है।

"कैप्टन विलयर्ड ने अपनी पुस्तक 'म्यूजिक ऑफ हिन्दुस्तान' में तबले का वर्णन करते हुए लिखा है कि, "तबला मृदंग तथा ढोलक के वाद का वाद्य है। यह मृदंग की भाँति बजता है, किन्तु इसे मृदंग से हल्के दर्जे का माना जाता है। उनके अनुसार तबले के सुविधार्थ ही दो टुकड़े कर लिये गये हैं, अन्यथा यह मृदंग ही है।"[1]

वास्तव में तबला–साहित्य को विस्तार प्रदान करने के लिए तबला वादकों ने कई प्रकार के ताल वाद्यों तथा नटवरी नृत्य में प्रयुक्त होने वाले बोलों को आत्मसात कर लिया। उदाहरण के लिए– ढोलक, नक्कारे आदि से लग्गी तथा किनार के बोल, मृदंग से

---

(1) भारतीय संगीत वाद्य– वाद्य वर्गीकरण–पृ0 162– डा0 लालमणि मिश्र

परन, रेला आदि नटवरी नृत्य से मुखड़ा, परन, गत आदि।

काल या समय परिवर्तनशील होता है। उसी संदर्भ में काल भी अछूता नहीं रह सकता। संगीत एवं ताल भिन्न–भिन्न प्रांतों में अलग–अलग प्रकार से गाये बजाये जाने लगे। 19वीं सदी तक भारत वर्ष में अलग–अलग प्रांतों में समान मात्राओं के कई ताल एवं उसके ठेके प्रचार में आये तथा उसी प्रकार अलग–अलग ताल पद्धतियाँ भी प्रचार में आईं। प्राचीन ताल पद्धति पर आधारित ताल पद्धति दक्षिण भारत में सप्त–सूलादि तालों के सन्दर्भ में प्रचलित हुई। उत्तरी भारत में भृगुनाथ वर्मा, ओंकरनाथ ठाकुर, रविन्द्र नाथ ठाकुर, मैले, आदि कई ताल–पद्धतियाँ प्रचार में आई तथा इनमें कई–नये–नये तालों का प्रादुर्भाव हुआ।

वर्तमान संगीत में प्रयुक्त तालों को गीतों के अनुसार पाँच श्रेणियों में रख सकते हैः–

(1) ध्रुपद अंग के ताल– चौताल, सूलताल, धमार, तीव्रा आदि।

(2) ख्याल अंग के ताल – तिलवाड़ा, एकताल, झूमरा, झपताल,

(3) टप्पा अंग के ताल – पंजाबी, मध्यमान (बंगाल) जतताल आदि।

(4) ठुमरी अंग के ताल – दीपचन्दी, अद्धा, ठुमरी–अंग का झप आदि।

(5) सुगम एवं लोक संगीत – कहरवा, दादरा, रूपक, धुमाली, पश्तो अद्धा आदि।

उत्तर भारतीय संगीत का क्षेत्र काफी विस्तृत है। संगीत में प्रयुक्त राग व ताल समान होते हुए भी भाषा एवं उच्चारण बल का गहरा प्रभाव तालों के ठेकों पर पड़ा है। इसलिए एक ही मात्रा के ताल के विभिन्न रूप एवं ठेके प्रचालित हैं। प्राचीन काल के ताल–शास्त्र का अध्ययन करने से पता चलता है कि उस समय कई तालों के विषम मात्रिक

प्रयोग एवं क्लिष्ट तथा जटिल तालें थी परन्तु अब वो क्लिष्ट एवं जटिल तालें लोप हो चुकी हैं। तबला बन्द बोलों के प्राधान्य वाला वाद्य रहा है। इस प्रकार वर्तमान समय में तबला–साहित्य विश्व के किसी भी ताल–वाद्य–साहित्य की अपेक्षा विशाल तथा पेचीदा हो गया है। तबले में पंजें से कम तथा उँगलियों से अधिक काम लिया जाता है, जिसके कारण उसमें बोलों को जितना द्रुत में बजाया जा सकता है उतना अन्य किसी ताल–वाद्य में सम्भव नहीं है।

नगाड़ा :–

नगाड़ा यह जोड़ी का वाद्य है। नगाड़ा साधारणतः उत्तर भारत में सर्वत्र दिखाई देता है। इसे 'नक्कारा' भी कहा जाता है। शहनाई वादन के साथ प्रायः नक्कारा ही बजाया जाता है। यह वाद्य कटोरे के आकार का होता है। इसके दो भाग होते हैं। नीचे से बन्द और ऊपर से खुला। यह चमड़े से मढ़ा जाता है। चमड़े की डोरियों या बद्दियों से कसा जाता है। छोटे भाग के मुख पर चढ़ाया जाने वाला चमड़ा पतला और बड़े मुख पर चढ़ाया जाने वाला चमड़ा मोटा होता है। नगाड़ा जोड़ी दोनों हाथों में कमचियाँ (चिकनी तथा बारीक लकड़ी) पकड़कर बजाई जाती है। सीधे हाथ की ओर छोटा तथा बाये हाथ की ओर बड़ा रखा जाता है। कहीं–कहीं छोटे भाग को 'झील' कहा जाता है। बड़े भाग का नाद नीचा और गम्भीर तथा छोटे भाग का नाद ऊँचा होता है।

डमरू :–

श्री कृष्ण की वंशी, सरस्वती की वीणा तथा शंकर के डमरू को हिन्दू धर्म ग्रन्थों में आध्यात्मिक महत्व प्रदान किया गया है। कहते हैं कि ताण्डव नृत्य के समय शिवजी डमरू बजाते हैं। नन्दिकेश्वर कारिका के अनुसार "भगवान शंकर के डमरू से व्याकरण के चौदह सूत्र उत्पन्न हुए– ये महेश्वर सूत्र समस्त वाङ्मय तथा इनमें प्रदर्शित स्वरवर्ण संगीत स्वरों के आधार हैं। स्वर–वर्णों का सांगीतिक रूप भी है। अ, इ, उ, को क्रमशः षड्ज, रिषभ,

गान्धार भी कहा गया है।''[1] इनमें 'ड' पाटाक्षर हैं। ''केई आचार्यों के मत से क, र, ख, ट – ये चार वरण (वर्ण) कहे हैं।''[2]

'संगीत रत्नाकर' एव 'संगीत सार' ग्रन्थ के अनुसार डमरू लगभग दो मुटठी लम्बा तथा बीच में एकदम पतला होता है। इसके मुख का व्यास लगभग एक मुटठी होता है जो पतले चमड़े से ढका रहता है। ये चमड़े दोनों ओर से एक पतली रस्सी से कसे रहते हैं। रस्सी के मध्य में, जहाँ वाद्य पतला होता है, रस्सी के ऊपर एक कड़े के समान रस्सी रहती है और उसके दोनो छोर लटकते रहते हैं। इन्हीं दोनों सिरों पर एक–एक घुण्डी बनी रहती है। इसे सीधे हाथ से मध्य स्थान पर पकड़कर हाथ से घुमाया जाता है जिससे घुण्डियाँ मुखों पर प्रहार कर नाद उत्पन्न करती हैं।

वर्तमान समय में शिव मन्दिरों में इस सामान्य आकार से लगभग तिगुना अथवा चौगुना बड़ा डमरू होता है जो आरती के समय दोनों हाथों से मध्य स्थान पर पकड़कर बजाया जाता है। उत्तर भारत में डमरू का विशेष प्रयोग बन्दर–भालू आदि का नाच दिखाने के लिए भी किया जाता है।

<u>ताशा</u> : –

ताशा चपटे कटोरे नुमा वाद्य है। जो लोहे अथवा मिट्टी का बना होता है। इसका व्यास लगभग 24 से0 मी0 होता है। इसके मुँह पर बकरे की खाल मढ़ी जाती है। खाल को डोरियों अथवा बद्दियों से कस दिया जाता है। इसमें एक डोरी बाँधी जाती है। गले में लटकाकर मुँह को आगे करके दो पतली तथा चिकनी लकड़ियों द्वारा इसका वादन होता है। यह सुगम संगीत (लोकसंगीत) तथा लोकनृत्य के साथ बजाया जाता है।

---

(1) अइउण् सरिगा : स्मृता : ।। सूत्र विवरण ।।

(2) संगीतसार, भाग 2, पृ0 74

इसके साथ ढोल और झाँझ बजाये जाते हैं।

ढाक : –

ढाक एक प्रकार का ढोल ही है। इस वाद्य का बंगाल में विशेष प्रचार है, जहाँ दुर्गा पूजा के अवसर पर इसकी भीषण ध्वनि सर्वत्र सुनाई पड़ती है। इसे बायें कन्धे में पीछे की ओर लटकाकर दोनो हाथों में बाँस की खपच्चियाँ लेकर केवल दक्षिण मुख का वादन किया जाता है। इसका स्वतंत्र वादन होता है तथा इसमें खेमटा ताल के अगणित रूप बजाये जाते हैं जिसका प्रचलित रूप निम्नवत है –

1	2	3	4	5	6
धाग	धिना	धिन	धाग	तिना	तिन

पखावज :–

मृदंग ही काष्ठ विशेष से निर्मित पखावज की सृष्टि है। पखावज फारसी शब्द ''पाखआवाज' से बना है जिसमें मन्द्र ध्वनि निकलती है। इसके दायें हाथ का चर्माच्छादित मुँह विपरीत मुँह से छोटा होता है और वह खरली (बीच में गोलाकार स्याही) युक्त होता है। बाएं हाथ के चर्मच्छादित मुँह पर आटा लगाया जाता है। चर्मच्छादन चर्मरण्णुओं द्वारा खिचें रहते हैं एवं इन के नीचे काष्ठ के आठ गट्टे लगे रहते है। इन गट्टों को खिसका कर पखावज का स्वर मिलाया जाता है।

घन वाद्य :–

''शारंगदेव ने घनवाद्यों का उल्लेख किया है। उनमें ताल, कांस्यताल, घण्टा, शुक्ति, क्षूद्रघंटा, कम्रा, अट्ट आदि वाद्य हैं। इन वाद्यों की बनावट के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि घन वाद्य उन ताल वाद्यों को कहा जाता है जिनमें अलग–अलग स्वर धारणा की व्यवस्था न हो तथापि किसी एक निश्चित स्वर में उनका वादन लय धारणा करने के लिए

किया जाता है।"[1]

आदि काल से ही इस वाद्य का रूप विस्तार प्रारम्भ हो चुका था। ईसा की लगभग बारहवीं शताब्दी तक संगीत में इनका महत्व भी बहुत अधिक था। परन्तु उसके बाद इनका प्रयोग क्रमशः शास्त्रीय संगीत में कम होता गया और आजकल इनका प्रयोग लोकसंगीत तक ही सीमित हो संगीत सार के अनुसार बाइस कटोरियों का जल–तरंग पूर्ण तथा पन्द्रह कटोरियों का जल–तरंग मध्यम समझा जाता था। कटोरियाँ चीनी मिट्टी अथवा कांसे की होती थी। "कृष्ण–भक्त कवियों ने अपने पदों में जल–तरंग का यत्र–तत्र उल्लेख किया है।" [2]

आधुनिक युग में ये वाद्य केवल चीनी मिट्टी के प्यालों के ही होते हैं, जिनकी सामान्य संख्या सोलह प्यालों की होती है। ये प्याले मन्द्र स्वरों के लिए बड़े तथा तार स्वरों के लिए क्रमशः छोटे होते हैं। राग के स्वरों के अनुसार प्यालों में आवश्यकतानुसार जलभर कर स्वर मिला लिये जाते हैं। वादक इन प्यालों को अपने सामने अर्ध–चन्द्राकार सजा लेते हैं ताकि प्रत्येक प्याले तक उसके हाथ की डण्डियों की पहुँच आसानी से हो जाए। इसके वादन के लिए बेंत अथवा बॉस की पतली डण्डियाँ जो बारह से सोलह अंगुल तक लम्बी होती है, प्रयोग में लायी जाती है। 'संगीतसार' आदि के अनुसार डण्डी से इसके जल को हिलाकर गमक आदि की भी उत्पत्ति की जा सकती है।

झांझ :–

प्राचीन व मध्य कालीन में ग्रन्थों में झांझ का वर्णन मिलता है। परन्तु इसके आकार–प्रकार में थोड़ा परिवर्तन होता रहा। छोटी झाँझ लगभग 2 इंच व्यास की होती है।

---

(1) ताल वाद्य शास्त्र–प्रा० काल से वर्त० काल तक के घन वाद्य–(मनोहर भाल चन्द्र राव मराठे)–पृ०–99

(2) 'सुरमण्डल, पिनाक, महुवरि, जलतरंग मन मौहे" (कृष्णदास)

इसका आकार गोल तथा चपटा होता है। मध्य में एक छेद होता है। इस छेद में से डोरी लगाकर उठे हुए भाग में कपडे या लकड़ी की मूठ लगाई जाती है अथवा दोनों भागों को एक ही डोरी में पिरो दिया जाता है। झाँझ के दोनों भागों को आपस में टकराकर इसका वादन किया जाता है। इससे उत्पन्न झन्–झन् की ध्वनि से लय कायम की जाती है। इसका निर्माण अलग–अलग स्वरों के अनुसार पीतल या कांसे की धातु से किया जाता है। भजन, कथा, लोक–संगीत, भक्ति–संगीत के गायन में इसका प्रयोग किया जाता है।

चिमटा :–

लोहे की 2 से 3 फुट लम्बी साधारण मोटी दो पत्तियाँ जो आपस में मोड़ द्वारा जोड़ दी गई हो, तथा मोड़ में लगभग 4 इंच व्यास का एक कड़ा फंसा हो उसे चिंपिया या चिमटा कहते हैं। इसका वादन दोनों पत्तियों के अग्रभाग को आपस में टकराकर तथा झटके के साथ कड़े को पत्तियों पर टकराकर करते हैं। इससे नाद युक्त ध्वनि नही अपितु केवल खट–खट, झन–झन की ध्वनि उत्पन्न होती है। लोकवाद्यों में इसका प्रयोग अधिक होता है। साधु–सन्यासी अपने गीत गायन में इसका उपयोग लय–धारणा के लिए करते हैं।

पियानो :–

पियानो लगभग हारमोनियम की ही तरह का एक वृहद मेजनुमा वाद्य होता है। यह एक विदेशी घनवाद्य है जो ईसाई मिशनरियों के साथ भारत में आया। इसमें 7 या 7½ सप्तक तक होते है और 85 के लगभग परदे होते हैं। तारों पर टंकोर (आघात) से बजने के कारण इसकी आवाज बहुत मधुर होती है। पियानो दोनों हाथों से बजाया जाता है जिसमें सभी उँगलियों का प्रयोग होता है। इसकी ध्वनि मधुर व शान्ति दायक होती है। बड़े–बड़े गिरजाघर, नाच घर और अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में पियानो की प्रमुखता रही है।

संतूर :–

संतूर का बादक मुड़ी हुई डण्डियों से गाने की संगति अथवा स्वतन्त्र रूप से गज बजाने के लिए होता है। सन्तूर का वादन आगे से ऊपर की ओर मुड़ी हुई दो पतली तथा हल्की डण्डियों से होता है। जिनकी मोटाई सामान्य पेंसिल से भी कम होती है।

सन्तूर बनाने के लिए लगभग चार इंच चौड़ी तथा आधा इंच मोटी, वाद्यों में लगने वाली लकड़ी की चार पट्टियाँ उन्हें खड़ा कर चारों ओर से एक–दूसरे से जड़ देते हैं। इसमें मन्द्र स्वरों की ओर जो पट्टी बनायी जाती है वह लगभग दो फुट लम्बी तथा तार स्वरों की ओर जो पट्टी बनायी जाती है वह लगभग दो फुट लम्बी तथा तार स्वरों की ओर जो पट्टी बनायी जाती है वह लगभग तेरह इंच की होती है। आगे–पीछे की इन पट्टियों के अतिरिक्त दायें बायें की पट्टियाॅ एक माप की होती हैं। इन्हीं पट्टियों में तार बाँधने और तार फँसाने की खूँटियाँ लगायी जाती है। इस प्रकार चारों पट्टियों से बने हुए ढाँचें के ऊपर तथा नीचे प्लाइवुड की तरह एक विशेष कश्मीरी लकड़ी से ऊपर तथा नीचे की ओर मजबूती से ढाँक देते हैं। ऊपर की ओर वाम तथा दक्षिण पार्श्व में पौन इंच मोटी तथा एक इंच ऊँची अतिरिक्त लकड़ी की पट्टी लगायी जाती है जिसके मध्य में हड्डी अथवा लोहे की रेखानुमा पत्ती जड़ दी जाती है जो लकड़ी से कुछ ऊपर निकली हुई होती है। इसी के ऊपर से होकर तार गुजरते हैं। खूँटियो के स्थान पर इसमें लोहे की पहलदार ऐसी कीले लगायी जाती है जो घुमावदार होती है। इनमें तार फँसाने के लिए एक छिद्र होता है, जिसमें तार को फँसाकर खूँटियों को घुमाने के लिए बनी लोहे की चाबी से घुमाकर लपेट दिया जाता है। इसमें सौ खूँटियाँ लगायी जाती है जो सभी दक्षिण पार्श्व में ऊपर –नीचे चार–चार की पंक्तियों में बनी रहती है।

जिस सन्तूर में एक सौ खूँटियों तथा तन्त्रियाँ होती हैं उसमें प्रत्येक स्वर के

लिए चार–चार तार होते हैं। आजकल कुछ ऐसे सन्तूर भी बनने लगे हैं जिनमें पचहत्तर अथवा पचास खूँटियाँ ही लगायी जाती हैं। लेकिन तन्त्रियाँ पचहत्तर हो या पचास अथवा एक सौ, इन पर स्वरों की संख्या पचीस ही रहती है, जो इच्छित राग के स्वरों में मिला ली जाती है।

कठताल या खड़ताल :–

ठोस लड़की के बने हुए ग्यारह अंगुल लम्बे गोल डण्डो को, 'कठताल' कहते हैं। इसमें खंजरी के समान पीतल की छोटी झांझों की दो स्थानों पर एक–एक जोड़ी लगी रहती है। यह चार टुकड़ों में होती है जिसमें दो टुकड़े दोनों हाथों के अगूँठों में तथा दो टुकड़ें दोनों हाथों की शेष उंगलियों में पहन कर बजाते हैं। दोनो टुकड़ों के मध्य अँगूठा –प्रवेश के लिए छिद्र रहता है। तथा दो टुकड़ों में चार उंगलियाँ प्रवेश कर सके इतना बड़ा छेद बनाया जाता है। इन वाद्यों को अन्य वाद्यों के साथ केवल ताल और लय में चमक पैदा करने के लिए बजाया जाता हैं। सन्त–गायक एक हाथ में एकतारा तथा एक हाथ में एक जोड़ खड़ताल लेकर वादन करते हुए गान करते हैं।

सुषिर वाद्य

बांसुरी:–

भारत के सुषिर वाद्यों में वंशी प्राचीन काल से वर्तमान काल तक प्रमुख वाद्य रहा है। संगीत–ग्रन्थों के अतिरिक्त महाभारत श्रीमद्‌भागवत आदि ग्रन्थों में जिनमें भगवान श्रीकृष्ण की लीला का वर्णन है, भगवान श्रीकृष्ण की प्रिय वंशी का भी वर्णन उपलब्ध है।

भगवान श्रीकृष्ण के अधरामृत का रसपान कर वंशी अजर–अमर हो गयी।

प्राचीन काल में वंशी बनाने के लिए एक चिकना सीधा तथा बिना गाँठ के बाँस का प्रयोग करते थे। इसके अलावा खैर की लकड़ी, हाथी दाँत, लालचन्दन तथा सफेद

चन्दन की भी बाँसुरी बनती थी। जिसकी लम्बाई अठारह अंगुल की होती थी और उसमें कुल नौ छेद होते थे। ऐसी वंशी को 'एक वीर' नाम से पुकारा जाता था। वंशी में द्विश्रुतिक, त्रिश्रुतिक तथा चतु:श्रतिक स्वरों के वादन के लिए महर्षि भरत, आचार्य शारंगदेव आदि ने विध ान बताये हैं। आचार्य शारंगदेव ने वंशी को बायीं ओर रखने के विधान का समर्थन किया। कुछ विद्वान बायें हाथ को नीचे तथा दायें हाथ को ऊपर रखने का नियम बताते हैं तथा कुछ उसका उल्टा। "प्राचीन काल के विधान से पता चलता है कि समस्त छिद्रों को बन्द करने तथा सामान्य रूप में मुख रन्ध्र में फूँकने से तार सप्तक के षड्जादिक तथा धीमें फूँकने से मन्द्र सप्तक के षड्जादि स्वर उत्पन्न होते थे।"[1]

सुषिर वाद्यों में वंशी का सदा से एक छत्र राज्य रहा है। देखा जाय तो सभी नामों तथा सभी प्रकार के छिद्रों से युक्त वंशी बना लेने पर 'एक–वीर', उमापति, त्रिपुरूष, चतुर्मुख आदि वंशियों के समस्त स्वर रन्ध्रों को बन्द कर वादन करने में उनमें क्रमशः षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम आदि स्वरों की प्राप्ति होती है। आधुनिक युग में नाद–रन्ध्र युक्त कोई वंशी देखने को नही मिलती लेकिन हॉ शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त होने वाली वंशी के स्वर–रन्धो की संख्या केवल छह होती है। एक मुख–रन्ध्र वाली आड़ी वंशी के अतिरिक्त लोक संगीत में भी प्रयुक्त अनेक प्रकार की वंशियों का प्रचार है। आधुनिक सुषिर वाद्यों की वादन–विधि भी प्राचीन ही है लेकिन खटका, मुर्की, मींड, कण आदि नई आवश्यकताओं के अनुसार वादन–विधि में सामान्य अन्तर हुआ है। अधिकाशंतः व आधुनिक वंशियों में मुख्य भेद स्वर रन्ध्रों का है। इनकी वंशियों में छह स्वर–रन्ध्र होते हैं और एक मुख–रन्ध्र। छह स्वर रन्ध्रों में नीचे के तीन रन्ध्र खुले तथा ऊपर के तीन रन्ध्र बन्द करके जो स्वर उत्पन्न होता है। उसे षडज माना जाता है।

शहनाई :–

शहनाई शब्द में शाह का अर्थ बादशाह और नेय का अर्थ फूँक से बजने वाला बाजा है। अर्थात् शहनाई फूँक से बजने वाले समस्त वाद्यों का बादशाह है। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह शहनाई ईरानी वाद्य है। पर यह सप्रमाण सिद्ध नहीं किया गया है। शहनाई, नफीरी, नागस्वरम जो शहनाई के ही छोटे–बड़े रूप है, हमारे देश में मांगलिक वाद्य माने जाते हैं। दक्षिण में नागस्वरम् का तो मन्दिरों के साथ भी अभिन्न सम्बन्ध है।

यद्यपि शहनाई नाम के किसी वाद्य का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। किन्तु सुनादी नाम से एक सुषिर वाद्य का वर्णन जिसके लक्षण शहनाई से मिलते है, पं0 अहोबल विरचित 'संगीत–पारिजात' में इसका वर्णन किया गया है।

शंख –

शंख भारत का अति प्राचीन सुषिर वाद्य है। वैदिक युग से ही इसका प्रयोग धार्मिक तथा युद्ध आदि में होता आया है। प्राचीन काल में शंख के अनेक रूप प्रचलित रहे हैं। आधुनिक युग में शंख का धार्मिक प्रयोग ही देखा जाता है। जिसका रूप प्राकृतिक ही है। संगीत–पारिजात' में लिखा है कि –''वाद्योपयोगी शंख का पेट बारह अंगुल का होता है। उसमें मुख का छेद बेर के बीज के बराबर होता है। तथा उसके ऊपर पतली धातु का कलश बनाते हैं। इस कलश को मुँह में रखकर शंख को वाद्य की भाँति बजाया जाता है।''(1)

वस्तुतः शंख एक सामुद्रिक जीव का ढाँचा है, जो समुद्र से निकाला जाता है। इसकी दो जातियाँ हैं – जो दक्षिणावर्त तथा 'वामावर्त' नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम कोटि वाले शंख कम पाये हैं। कहते हैं कि भगवान ने शंखासुर को मारकर उसे अपने कर –कमलो में स्थान दिया, तभी से उनके कर –आयुधों में से एक शंख की गणना होती है।

---

(1) भारतीय संगीत वाद्य –सुषिर वाद्य वर्गीकरण पृ0 –227 –डॉ0 लालमणि मिश्र

शहनाई :—

शहनाई शब्द में शाह का अर्थ बादशाह और नेय का अर्थ फूँक से बजने वाला बाजा है। अर्थात् शहनाई फूँक से बजने वाले समस्त वाद्यों का बादशाह है। कुछ विद्वानों का मानना है कि यह शहनाई ईरानी वाद्य है। पर यह सप्रमाण सिद्ध नहीं किया गया है। शहनाई, नफीरी, नागस्वरम जो शहनाई के ही छोटे–बड़े रूप है, हमारे देश में मांगलिक वाद्य माने जाते हैं। दक्षिण में नागस्वरम् का तो मन्दिरों के साथ भी अभिन्न सम्बन्ध है।

यद्यपि शहनाई नाम के किसी वाद्य का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। किन्तु सुनादी नाम से एक सुषिर वाद्य का वर्णन जिसके लक्षण शहनाई से मिलते है, पं0 अहोबल विरचित 'संगीत–पारिजात' में इसका वर्णन किया गया है।

शंख –

शंख भारत का अति प्राचीन सुषिर वाद्य है। वैदिक युग से ही इसका प्रयोग धार्मिक तथा युद्ध आदि में होता आया है। प्राचीन काल में शंख के अनेक रूप प्रचलित रहे हैं। आधुनिक युग में शंख का धार्मिक प्रयोग ही देखा जाता है। जिसका रूप प्राकृतिक ही है। संगीत–पारिजात' में लिखा है कि –"वाद्योपयोगी शंख का पेट बारह अंगुल का होता है। उसमें मुख़ का छेद बेर के बीज के बराबर होता है। तथा उसके ऊपर पतली धातु का कलश बनाते हैं। इस कलश को मुँह में रखकर शंख को वाद्य की भाँति बजाया जाता है।"(1)

वस्तुतः शंख एक सामुद्रिक जीव का ढाँचा है, जो समुद्र से निकाला जाता है। इसकी दो जातियाँ हैं – जो दक्षिणावर्त तथा 'वामावर्त' नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम कोटि वाले शंख कम पाये हैं। कहते हैं कि भगवान ने शंखासुर को मारकर उसे अपने कर –कमलो में स्थान दिया, तभी से उनके कर –आयुधों में से एक शंख की गणना होती है।

---

(1) भारतीय संगीत वाद्य –सुषिर वाद्य वर्गीकरण पृ0 –227 –डॉ0 लालमणि मिश्र

भरत ने अपने ग्रन्थ के 33 वे अध्याय (अवनद्धातोद्य विधानाध्याय) में अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति, बनावट, वादन एवं अन्य आवश्यक परिभाषाओं का विस्तृत विवेचन किया है। उन्होनें नाटयशास्त्र में–पुष्कर, मर्दल, मृदंग, पणव दर्दुर, भूमि दुंदुभी, झल्लरी, पटह आदि वाद्यों का वर्णन किया। भरत के बाद शारंगदेव कृत–"संगीत रत्नाकर" में मार्गी देशी संगीत तथा तालों का विवेचन किया है। इन्होंने अपने ग्रंथ के पाँचवे अध्याय में ताल का तथा छठवें अध्याय में वाद्यों का विस्तृत विवेचन किया है।

भरतकृत नाट्यशास्त्र ग्रन्थ के 28 से 33 वें अध्याय में भरत ने वाद्याध्याय में (33/20–23)में उत्सव, शोभायात्रा, मंगलअवसर विवाह, पुत्र–उत्सव और युद्ध के साथ–साथ घरेलू त्यौहारों में किस प्रकार के ताल वाद्यों का प्रयोग करना चाहिए यह बताया गया है।

शारंगदेव ने अपने ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर में 'ताल' की परिभाषा इस प्रकार की है "तल् धातु से उत्पन्न होने वाला, गीत, वाद्य, नृत्य को स्थिरता प्रदान कराने वाला, लघु इत्यादि मापक क्रियाओं से मापा जाने वाला तथा गीत, वाद्य और नृत्य को परिमाण धारण कराने वाला ही ताल है।[1] इस तरह नाट्यशास्त्र में ताल की परिभाषा भरतमुनि ने की है "कला, पात और लय से युक्त जो काल विभाग या परिमाणात्मक प्रमाण जो घन वाद्य वर्ग में आता है, ताल कहलाता है।"[2]

प्राचीन संगीत ग्रन्थों में सैकड़ों प्रचलित एवं अप्रचलित तालों के उल्लेख मिलते हैं। तालों की रचना मूलतः बौद्धिक है। ऐसा समझा जाता है कि संगीत शास्त्रियों ने समय समय पर आवश्यकतानुसार नई–नई तालों की रचना कर ली होगी।

---

(1) ताल वाद्य शास्त्र– (ताल पद्धति का विकास एवं इतिहास) मनोहर भाल चंद्रराव मराठे पृ0 –48

(2) ताल वाद्य शास्त्र–नाट्य शास्त्र के आधार पर प्राचीन मार्गी ताल पद्धति –मनोहर भाल चंद्रराव मराठे–पृ0–31

जयदेव सिंह के अनुसार "केवल गति से लय नही बन सकती ,केवल विश्रान्ति से भी 'लय नही बन सकती, जब परस्पर विरोधी गति और विश्रान्ति का समन्वय होता है, तभी 'लय' बनती है। जब गति में बराबर बराबर अन्तरालों द्वारा बराबर विश्रान्ति होती है तभी 'लय' का प्रादुर्भाव होता है। जब एक अधिष्ठान के आधार पर गति उठती है और बराबर–2 विश्रान्ति के अनन्तर उसी में लीन हो जाती है, तब 'लय' की महिमा प्रकट होती है। नटराज एक 'लय' से नृत्य करते हैं उनकी 'लय' में दृष्टि स्थिति और संहार का अदभुत रहस्य छिपा है"।

उपर्युक्त विवचेन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ से वाद्यों के विकास–क्रम के साथ–साथ नवीन वाद्यों का आगमन–क्रम तथा एक के बाद एक वाद्य–रूपों का आविर्भाव हमारी वाद्य–परम्परा को कैसे समृद्ध करता गया।

चतुर्थ अध्याय

'बुन्देलखण्ड के लोक वाद्य'

लोक संगीत की सहजता और उसका सौन्दर्य किसी से छिपा नहीं है। सभी वर्गों की भाषा कला और संस्कृति एक दूसरे से भिन्न होती है। भिन्न–भिन्न अवसरों पर भिन्न–2 अभिव्यक्तियों के लिए लोक में अनगिनत वाद्य यन्त्र पाये जाते हैं। आदि मानव ने जब समुद्री लहरों की गति में ध्वनि, वर्षा की बूंदों में घुँघरूओं की आवाज, बादलों के गरजन में गंभीर घरघराहट सुनी होगी, तब इन्हीं ध्वनियों का अनुकरण कर उसने भिन्न–भिन्न आवाजों को अपने मुँह से निकाला होगा। खुश होकर ताली बजाई होगी अनायास पत्थरों के टुकड़ों को आपस में बजाया होगा और शायद तन्मय होकर भीगते पानी में नृत्य भी किया होगा।

स्वरों की तन्मयता व भिन्न–भिन्न लय की गति पर गुनगुनाते एवं थिरकते उसके पाँव उत्तरोतर विकास का क्रम बन गये। लोक के अत्यधिक समृद्ध होने पर वेद शास्त्र आदि की रचना हुई है। अतः सर्वविदित है कि "शास्त्रीय संगीत की उत्पत्ति लोक संगीत से हुई, तो निश्चय ही लोक संगीत अपने आप में पूर्ण होना चाहिए लोक संगीत का निर्माण स्वभाविक है। इसको समझकर जब हम विश्लेषण करके नियम बद्ध करते हैं तब वह लोक से हटकर शास्त्रीय रूप धारण करता है।"[1]

इस प्रकार शास्त्रीय संगीत निश्चय ही अपने आप में पूर्ण वस्तु हो जाता है। वह मूल 'लोक' रूप से अधिक सुसंरकृत व व्यवस्थित होता है।

बुन्देलखण्ड कला एवं संस्कृति का गढ़ रहा है। यहाँ लोकगीत, लोकवाद्य तथा लोकनृत्य लोक जीवन के अंग रहे हैं। लोक वाद्यों का प्रयोग, लोकगीत, तथा लोक नृत्यों में संगत करने एवं स्वतंत्र रूप से भी किया जाता है। लोकजन आडम्बरहीन सहज होता है और

---

(1) सम्मेलन पत्रिका–लोक संस्कृति विशेषांक–श्री कुमार गंधर्व पृ0–304

सहज उपलब्ध वस्तुओं एवं उपेक्षित वस्तुओं से वाद्यों का निर्माण भी कर लेता है। जैसे–गोल तुम्बे से एक तारा, बांसों से बांसुरी व नरकुल, अलगोजा, आम की गुठली से पपीरी, ताड़ व बरगद के पत्तों से पिपहरी। यहाँ तक की घरेलू वस्तुऐं जैसे–लोटा, थाली, सूप, चलनी, चिमटा, कटोरा, घड़ा, ताली एवं चुटकी आदि वाद्यों का रूप ले लेती हैं। चकिया की घरघराहट उनके गीतों का आधार स्वर बन जाता है। मूसल की धमक, चूड़ियों की खनक, ढेकली का स्वर, पैर की पायल आदि ध्वनियाँ उनके गीतों के वाद्य यन्त्र बन जाते हैं। अतः कहना न होगा कि प्रत्येक स्थान पर गाने वाले के लिए बुन्देली लोक जीवन में प्रकृतितः वाद्य उपस्थित हो जाते हैं।

बुन्देलखण्ड के लोक जीवन में काल, स्थान तथा जाति के अनुसार गीतों के अनुरूप वाद्य परिवर्तित होते रहते हैं। यहाँ के लोकजीवन में हमें वाद्यों के दो मुख्य स्वरूप मिलते हैं। मनुष्य की क्रियाएँ ही वाद्य का रूप धारण कर लेती हैं जैसे–मूसल चलाने से उत्पन्न ध्वनि, इनकों हम क्रिया वाद्य भी कह सकते हैं। दूसरे प्रकार के वाद्यों को वाद्यों के स्वरूप में ही पहचानते हैं, जैसे ढोलक, नगड़िया आदि।

लोक वाद्य संगीत के साथ संगत देने वाले मात्र उपकरण ही नही अपितु स्वतंत्र रूप से बजाये जाने लगे और इन अर्थविहीन किन्तु अनुभूतिपूर्ण एवं रसानुभूतिपूर्ण बोलों में मानवीय संवेदनाओं की अनुभूति होती है। अतः कहना न होगा कि लोकवाद्यों से ही शास्त्रीय वाद्यों का जन्म हुआ है। "छत्तीस वाद्य यंत्रों का उल्लेख मध्यकालीन भारत में हुआ है"[1]

---

(1) "चतुर्भुज दास कथित 'खटऋतु की वार्ता' में 36 वाद्य–यंत्रों का उल्लेख हुआ है– वीना, बीन, मुरली, अमृत कुण्डली, जलतरंग गगनभेरी, धौंसा, दुन्दुभी, निसान, नगाड़ा, शंख, घंटा, मुहचंग सिंगी खंजरी, ताल, षटताल, मंजीरा, मुहरि, घाटी झालर, ढोल, ढप, डिमडिम, झांझ, मृदंग, गिड़गिड़, पिनाक, रबाब जंत्र, शहनाई, श्रीमण्डल, सारंगी, दुधारी, करताल, तुरही, तथा किन्नरी"।–प्रभु दयाल मीतल :अष्टछाप परिचय, द्वितीय संस्करण, पंचम परिच्छेद– अष्टछाप का संगीत (अष्टछाप के वाद्य यंत्र) पृ0– 364

संगीत सम्राट पं० तानसेन ने वाद्यों के वर्गीकरण एवं उनकी बनावट तथा विशेषताओं को इस प्रकार किया है:-

तत को पहिले कहत है, वितत दूसरो ठान
तीजे घन चौथे सिखर, तानसेन परमान।
तार लगे सब साज के, सो तत् ही तुम मान।
चरम मढ़यों जाको नुख रवि ततलुक है बखान।
कंस ताल के आदि दे, घन जीय जानहु मीत।
तानसेन संगीत रस बाजत सिखर सुनीत।। (2)

यद्यपि पं० तानसेन का वर्गीकरण शास्त्रीय वाद्यों के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। परन्तु इसकी सार्वभौमिकता एवं लोकप्रियता ने सम्पूर्ण वाद्यों (शास्त्रीय एवं लोक) को अपने पाश में समेट लिया है। बुन्देलखण्ड के लोक वाद्यों का वर्णन उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में करना अधिक उचित है।

(क) 'तंतु या तंत्री वाद्य'

तार या तंतुओं से बने होने के कारण इसे तंतु या तंत्री वाद्य या तत् वाद्य कहते हैं।
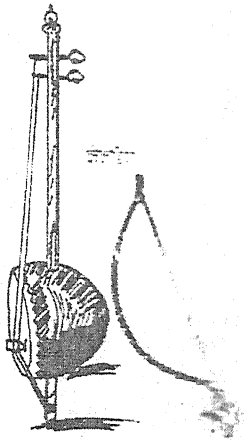
(1) केंकड़िया :- यह तंतु वाद्य अति प्राचीन है बुन्देलखण्ड में इसका उपयोग लोकगाथाओं को गाते समय किया जाता है। इसे बुन्देलखण्ड में रूं--रूं के नाम से भी जाना जाता है। नारियल के आधे हिस्से को काटकर उस पर चमड़ा चढ़ा दिया जाता है। नारियल के खोल में लगभग एक डेढ़ फुट लम्बे बाँस

(2) तानसेन 'संगीतसार -- 'अथ बाजे भेदनामान्। उद्धृत डॉ० सरजू प्रसाद अग्रवाल 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' प्रथम संस्करण पृ०-- 362 ; परिशिष्ट-- तानसेन की रचनाएं।

को लगा दिया जाता है। बांस की ऊपरी खूंटी से नारियल तक घोड़े के बाल बंधे होते हैं। तथा एक पतला तार भी बंधा होता है। चर्म–अवनद्ध हिस्से के बीच एक लकड़ी का टुकड़ा लगा होता है जो इस वाद्य को चढ़ाने–उतारने के काम आता है। घोड़े के बालों से बंधे गज से ये सारंगी जैसा बजाया जाता है। इसे बुन्देलखण्ड के 'ढिमरियाई लोक नृत्य' के साथ भी बजाते हैं।

'तम्बूरा'
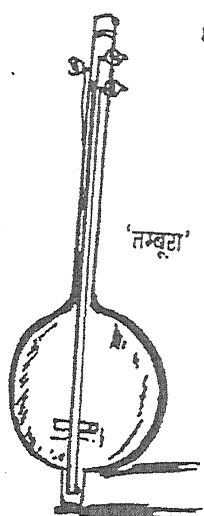
(2) <u>तंबूरा</u> (एकतारा):– एक तार वाले तत् वाद्य को एक तारा तथा चारतार वाले को चौतारा या तंबूरा कहा जाता है। बुन्देलखण्ड में साधू–संत तथा जोगी भजन गाते समय इसे बजाते हैं। गोल कद्दू या तुम्बे के खोल में लगभग दो या ढाई फुट लम्बा एक बांस का डंडा' लगा दिया जाता है। तुम्बे के ऊपरी भाग को काट कर बकरी के चमड़े से मढ़ दिया जाता है। बॉस के ऊपरी हिस्से में लकड़ी की खूंटी होती है। उस खूंटी से लेकर बांस के निचले हिस्से में एक तार बांध दिया जाता है। तार को ऊपर वाली खूंटी से चढ़ाया, उतारा जाता है तथा उंगलियों से तानपूरा जैसा बजाया जाता है। एकतारा एक सुर में बोलता है।

'स्वार'
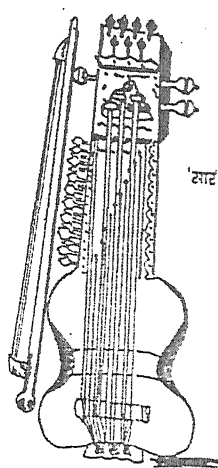
(3) <u>सारंगी</u> :– बुन्देलखण्ड के लोक नाट्य, नृत्य, एवं गायन में सारंगी का प्रयोग प्रमुख वाद्य के रूप में होता है। यह जोगी जाति जो भजन, स्तुति गाते, भिक्षाटन हेतु आते रहते हैं, का विशेष वाद्ययंत्र है। सागवान की लकड़ी से बनी इस सारंगी में 26 तार होते हैं, जो इसके माथे में स्थित खूंटियो से बंधे होते हैं। ऊपर की मोटी ताँतें बकरी की आंतों की बनी होती हैं। ताँबें या स्टील की बनी तेरह तुरमों को चार बड़ी खूंटियों में बांध दिया

जाता है। घोड़े के बालों से बंधे गज (धनुष) द्वारा इसे बजाया जाता है। लोक तथा शास्त्रीय संगीत में ये समान रूप से प्रचलित है।
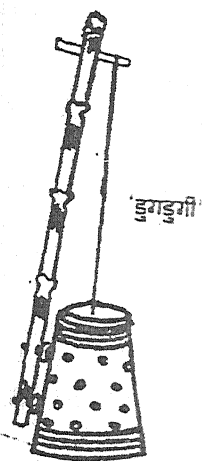
(4) डुगडुगी :– यह वाद्य इकतारा जैसा ही होता है। इकतारें में तुम्बी का प्रयोग करते है लेकिन इसमें टीन के डिब्बे का। टीन के डिब्बे के बीच एक डेढ़ फुट लम बांस का टुकड़ा लगा दिया जाता है बांस के ऊपरी हिस्से में एक खूंटी लगी होती है। तथा उस खूंटी से डिब्बे के बीच एक लोहे का चार कसा होता है जिसे उंगलियों से बजाते हैं। इसकी ध्वनि मधुर होती है। इस वाद्य को बुन्देलखण्ड के लोग बड़ी तन्मयता से बजाते हैं।

(ख) अवनद्ध वाद्य

वे वाद्य जो चमड़े से मढ़े होते हैं और चमड़े पर आघात करके स्वर उत्पन्न करते हैं, वे अवनद्ध वाद्य की श्रेणी में आते हैं। अन्दर से खोखले तथा ऊपर व मुख पर चमड़े से मढ़े होने के कारण अवनद्ध अथवा वितत वाद्य कहलाते हैं। अवनद्ध लोकवाद्यों में ढोलक, मृदंग, ढोल, ढाक, हुड़क, डमरू, डेहरू, ढपली ढपला, तांसा, धौंसा, नगड़िया, नगाड़ा, डिग्गी, नौबद, चंग, खंजड़ी, नाहर, धौंकनी, आदि वाद्यों का प्रयोग बुन्देली परिवेश में विभिन्न अवसरों पर किया जाता है।

(1) ढोलक :– बुन्देलखण्ड के लोकवाद्यों ढोलक में सर्वप्रचलित तथा सर्वप्रिय लोकवाद्य है। के0 वासुदेव शास्त्री जी के अनुसार – ''गायन के पीछे ढुलकती हुई चलने के कारण इस
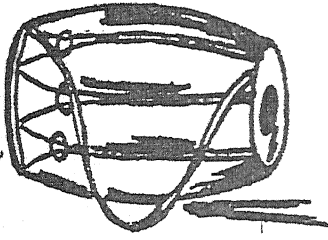
वाद्य ने ढोलक का सम्बोधन पाया"।[1] लोकगीतों, नृत्यों तथा नाट्यों में इसका सर्वाधिक प्रयोग होता है। आल्हा, सोहर, होली, चैता आदि में स्त्री पुरूष इस वाद्य का प्रयोग समान रूप से करते हैं। ढोलक, शीशम, सागवान, आम या बीजा की लकड़ी का खोल होता है जिसका दाहिना मुख, बायें मुख की अपेक्षा व्यास में कुछ मोटा तथा बीच में अपेक्षाकृत उठा होता है। इसके दोनों पार्श्वों में बकरी का चमड़ा मढ़ा होता है। बायीं ओर का चमड़ा दायीं ओर की अपेक्षा कुछ मोटा होता है। सूत की डोरी से बायां तथा दायां मुख आपस में कसा होता है। रस्सी पर लगे लोहे या पीतल के छल्लों की सहायता से इसे चढ़ाया जाता है। ढोलक के मुख पर स्याही लगी होती है इसको दोनों हाथों से बजाते हैं। इसकी ध्वनि बहुत दूर तक जाती है।

'ढोलक'
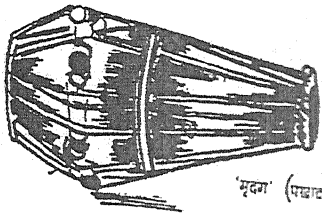
(2) मृदंग (पखावज) :— यह मृदंग कहा जाने वाला वाद्य ढोलक जैसा ही होता है। यह एक अति प्राचीन अवनद्ध वाद्य है। प्राचीन ग्रन्थों में मृदंग आदि अवनद्ध वाद्यों की उत्पत्ति के संबंध में आख्याान प्राप्त होते हैं — एक मत के अनुसार — "शिव ने त्रिपुरासुर विजय पर जो नृत्य किया, उसमें संगीत देने के लिए ब्रह्मा ने एक अवनद्ध वाद्य का निर्माण किया, जिसका ढाँचा मिट्टी का था, अतः उसे मृदंग कहा गया। "शिव—पुत्र गणेश ने सर्वप्रथम इस वाद्य को बजाया। इसकी प्राचीनता को श्री नारायण गर्ग ने लिखा है कि— "यह भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के 'पुष्कल' वाद्य 'पखवाज' का अपभ्रंश है जो कालान्तर में 'पखावज' बन गया"।[2]

'मृदंग' (पखावज)

---

(1) के0 वासुदेव शास्त्री, संगीत—शास्त्र पृ0 282

(2) सम्पादक —लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत मासिक पत्रिका अप्रैल 1958, पृ0 36

यह वाद्य शीशम, आम, सागौन, बीजे की लकड़ी का लगभग 20 इंच या दो फुट का खोल होता है। बांए मुँह की अपेक्षा दाहिने मुंह का व्यास छोटा होता है। तथा बीच का व्यास अधिक होता है। दोनों मुंह बकरे के चमड़े से आच्छादित होते हैं। छोटे मुख की ओर स्याही लगी रहती है। स्वर–ऊँचा–नीचा करने के लिए बड़े मुख की ओर गुंधा हुआ आटा बजाते समय आवश्यकतानुसार चिपका दिया जाता है। इसके ऊपर रस्सी (बद्धी) में लकड़ी के गुटके लगाए जाते हैं। बुन्देली जन राई, कांड़रा, जवारें, आदि नृत्य गीतों के साथ इसको बजाते हैं।
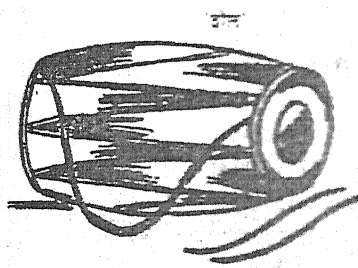
ढोल :– ढोलक की अपेक्षा इस वाद्य का मुख चौड़ा होता है अर्थात् ढोलक का बड़ा रूप ही ढोल कहलाता है। रामदल, अखाड़े, धार्मिक या सांस्कारिक वैवाहिक अवसरों पर पंचट (बांस की आधी इंच चौड़ी डेढ़ फुट खपच्ची) एवं डंडी से ढोल वादन करते हैं। डेढ़–दो फुट लंबे तथा 10–12 इंच व्यास लकड़ी का घेरा जिसमें एक ओर पतला तथा दूसरी ओर मोटा चमड़ा मढ़ा होता है। मुहम्दीय–मुहर्रम के त्यौहार का यह मुख्य वाद्य है।
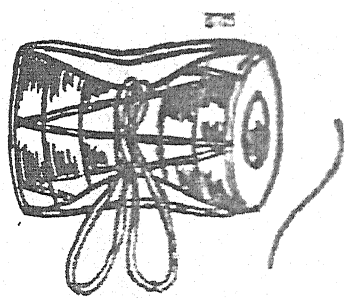
ढाक :– यह 'डमरू' या 'हुड़क' जैसे आकार– प्रकार का तथा उससे बड़ा होता है। यह पीतल की खोल जिसके दोनों मुंह पर बकरे का चमड़ा रस्सियों की सहायता से कसा होता है। बजाने वाले बैठकर दोनों पंजों के उपर कपड़ा रख इसे रखते हैं तथा दोनों पैरो के अंगूठे में इसके ताने–बाने की रस्सी को फंसा लेते हैं। बीच की बड़ी रस्सियों को दोनों घुटनों में डाल पतली घुमावदार लकड़ी से चमड़े पर आघात करते हुए पंजों में फंसी रस्सी को नीचे–ऊपर करते जिससे घुटनों में फंसी रस्सियों में खिचाव के कारण गूंज पैदा होती है। इसे 'डफ' का बड़ा रूप भी कहा जाता है। बुन्देलखण्ड में

इस वाद्य का प्रयोग कारसदेव की गोटें, कन्हैंया गाते समय या भगत लोग अपने 'इष्ट' को प्रसन्न करने के लिए करते हैं।
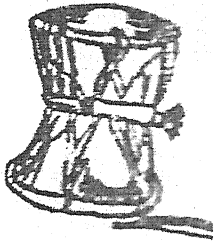
हुड़क :– हुड़क डमरू की आकृति का पर ढाक व डमरू से बड़ा वाद्य यन्त्र होता है। एक ओर से हाथ से बजाने के कारण यह यह इन वाद्यों से भिन्न होता है। ढाक की रस्सी को पैर के पंजों तथा घुटने में लगाकर लकड़ी से बजाते हैं। इसकी रस्सी को बांये कंधे में फंसाकर तथा बायें हाथ से इसे बीच में पकड़कर दाहिने हाथ से बजाते हैं। इसे 'देहकी' भी कहते है। बुन्देलखण्ड की कहार जाति का यह प्रिय वाद्य है।
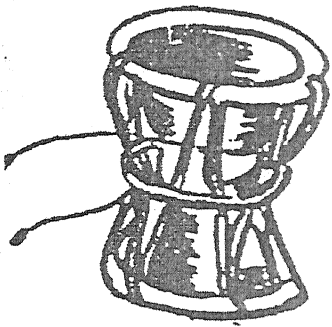
'डमरू'

डमरू :– शिवजी का डमरू जग प्रसिद्ध है। शिवालयों की आरती हो चाहे मदारी का खेल डमरू की डम–डम के अभाव में अधूरे ही लगते है। लोक जीवन में यह वाद्य महत्वपूर्ण है। इसका आकार प्रकार ढाक जैसा होता है लेकिन ढाक से यह छोटा होता है। यह वाद्य दोनों ओर से चमड़े से मढ़ा होता है बीच का भाग सँकरा तथा दोनों मुखों पर क्रमशः इसकी गोलाई बढ़ जाती है। बीच में दो रस्सी की लड़ी जिसके ऊपरी भाग पर गांठ बंधी होती है। हाथ हिलाने पर ये गांठें चमड़े से टकराती हैं, जिससे डम–डम डम की आवाज होती है।
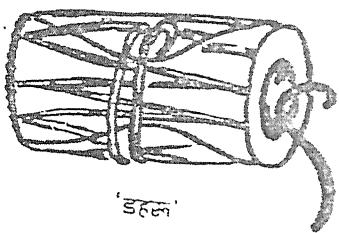
'डहरू'

डेहरू :– बुन्देलखण्ड के झांसी तथा सागर क्षेत्र के बाल्मीकि जाति के लोग इस अवनद्ध वाद्य का उपयोग करते हैं। यह देखने में ढाक जैसा ही होता है। पर इसका खोल लकड़ी का

होता है। जिसके दोनों और कनेर की पतली लकड़ी में चमड़ा मढ़ा होता है। एक हाथ से इसकी रस्सियों को पकड़कर खिंचाव पैदा करते हैं तथा दूसरे हाथ से मेंहदी की अर्द्धचन्द्राकर लकड़ी से इस बजाते हैं। इसे डेरू भी कहते हैं।
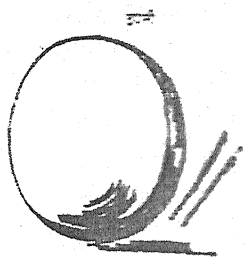
ढपली :– ढपली लकड़ी या स्टील की चादर से निर्मित गोल घेरे में मढ़ी होती है। ढपले से कुछ छोटी आकार की होती है। इसे ढपलिया भी कहते हैं। लोक कलाकारों द्वारा नृत्य एवं गायन के समय इस वाद्य यंत्र का प्रयोग किया जाता है।
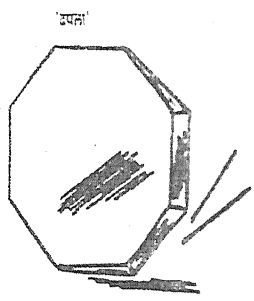
ढपला :– यह चमार–जाति का मुख्य लोकवाद्य है। जिसे मांगलिक अवसर पर गीत–नृत्य के साथ बजाया जाता है। यह लकडी की आठ बराबर लंबाई, चौड़ाई और मोटाई वाली पाटियों को मिलाते हुए अष्ट भुज बनाते हैं।एक ओर चमड़ा मढ़कर दूसरी ओर तांत से जालीनुमा बुन देते हैं। 6 से 8 इंच लम्बे 3 से 5 इंच चौड़े एवं आधा पौन इंच मोटी लकड़ी की पटियाँ प्रयोग में लाते हैं। कुछ ढपले षटकोणीय भी होते हैं। इसको चढ़ाने के लिए धूप या आग दिखाई जाती है। बुन्देली जन इसे धार्मिक अवसरों तथा संस्कारों पर बजाते हैं। ढपले पर बजती कहरवा ताल कर्णप्रिय लगती है।
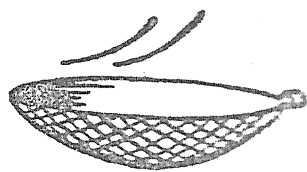
'तांसा'

तांसा :– तांसा मिट्टी, पीतल, तांबे या लोहे की चादर का तसलेनुमा होता है। इसके ऊपरी भाग पर चमड़ा मढ़ा होता है जिसे रस्सी या तांत की सहायता से कसा जाता है। इसे बांस की खंपच्चियों से बजाया जाता है। इसकी आवाज तेज व कर्कश होती है। ऊँची आवाज के कारण इसकी आवाज दूर तक सुनाई देती है। बुन्देलखण्ड में यह वैवाहिक तथा धार्मिक अवसरों और मुनादी के लिए बजाते हैं।
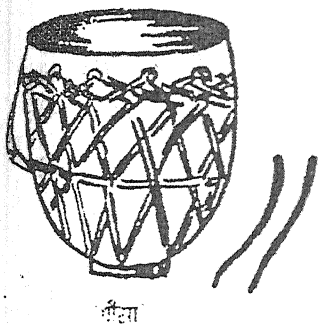
'धौंसा

धौंसा :— धौंसा नौबत के आकार प्रकार जैसा किंतु कुछ छोटा होता है। तांबे, पीतल या मिट्टी के नादनुमा बड़े खोल के मुँह पर मोटा चमड़ा मढ़ा होता है। इसे हाथ या दो डंडों की सहायता से मंदिरों एवं शिवालयों में आरती के समय बजाया जाता है।
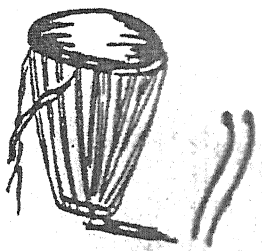
'नगड़िया'

नगड़िया :— यह मिट्टी की कटोरेनुमा आकार जैसी होती है। इसके मुँह पर चमड़े को तांत की सहायता से कसा जाता है। यह आकार–प्रकार में नगाड़े जैसी होती है लेकिन उससे आकार में कुछ छोटी होती है। इसे लकड़ी की सहायता से बजाते हैं। स्वर चढ़ाने के लिए धूप या आग दिखाते हैं तथा उतारने के लिए इसके मुंह को गीले कपड़े से पोंछते हैं। बुन्देलखण्ड में इसका प्रयोग संस्कारिक अवसरों, देवी–पूजन, भगतें, फागें, राई, दिवारी, जवारे तथा कजरियों आदि के अवसरों पर किया जाता है।
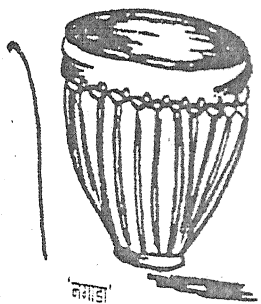
'नगाड़ा'

नगाड़ा तथा डिग्गी :— भगवान की आरती, पूजा में नगाड़ा का प्रायः प्रयोग किया जाता है। यह 'नॉद' के आकार का मिट्टी या लकड़ी का बना होता है। इसके ऊपरी भाग पर तांत की सहायता से चमड़ा मढ़ा होता है। जिसे डंडियों की सहायता से बजाते हैं। बोल निकालने के लिए टिमकी के आकार तथा उससे कुछ गहरी चमड़ा मढ़ी डिग्गी होती है। जिसे नगाड़े के पार्श्व में रखकर (नगाड़े तथा डिग्गी को) इंड़री पर थोड़ा तिरछा रखकर बजाते हैं। डिग्गी, नगाड़े की सहायिका होती है। इसको चढ़ाने के लिए आग पर सेंकते हैं। नौंटकी में नगाड़े के साथ रखकर बजाते हैं।
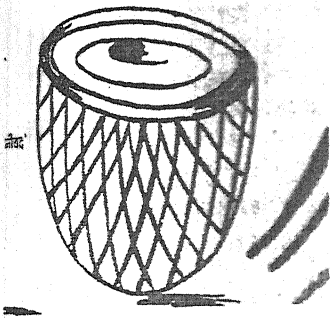
नौबद :– मिट्टी, पीतल या तांबे के नॉद नुमा काफी बड़े खोल के मुंह पर मोटा चमड़ा मढ़ा होता है। दो डंडों के द्वारा इसे बजाया जाते हैं। इसकी आवाज गम्भीर होती है। राजा – महाराजाओं के महलों तथा युद्ध के अवसरों पर इसका वादन किया जाता था। मंदिरों में भी आरती के समय नौबद की तेज आवाज सुनी जा सकती है।
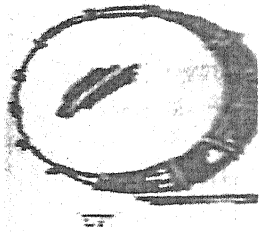
चंग :– 'चंग' बुन्देलखण्ड का अत्यन्त प्रिय वाद्य है। यह पीतल तॉबा अथवा निकिल का गोल घेरा होता है। इसके एक ओर चमड़ा मढ़ा होता है, जिसे धातु के हुकों द्वारा फंसाया जाता है। इस पर दाहिने हाथ से थाप देते है तथा बाएं हाथ की अंगुलियों में पीतल या लोहे के छल्ले से मोखले पर आघात करते हैं। 'ख्याल' व 'लावनी' गायकों का यह प्रिय वाद्य है।

खजटी'
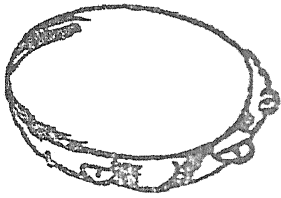
खंजड़ी :– बुन्देलखण्ड में इसका वादन भजन, ढिमरियाई, तथा रावला आदि नृत्यों में किया जाता है। यह लकड़ी के 6 से 8 इंच व्यास का खोल होता है। जिसकी चौड़ाई 2से 3 इंच तथा मोटाई आधा से पौन इंच तक होती है। इसके एक ओर 'गोह' का चमड़ा मढ़ा होता है। चौड़ाई वाले हिस्से में तीन–चार जगह घुंघरू या धातु के छल्ले होते हैं। इसे वांए हाथ से पकड़कर दाहिने हाथ से बजाते हैं।

नाहर धौंकनी :– शेर को बुंदेली में नाहर कहते हैं। इस दुर्लभ वाद्य से नाहर जैसी आवाज होती है इसलिए इसे नाहर– धौंकनी कहते हैं। मिट्टी के मटके के मुँह पर चमड़ा बांध
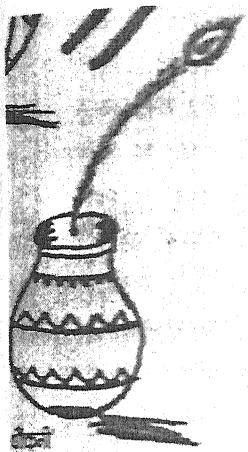
बीचोबीच एक छेद करते हैं, जिसमें मोर के पंख को जड़ की ओर से अंदर डालकर फंसाते हैं। हाथ को पानी से गीला कर मटके के मुँह के नजदीक से मोर पंख पर जड़ से पंख की ओर सरकाने पर इस वाद्य की दहाड़ सुनाई देती है। बुन्देलखण्ड में तन्त्र–मन्त्र तथा आधिभौतिक शक्तियों की पूजा–उपासना करने वाले लोग इसे बजाते हैं।

(ग) घन वाद्य

वे वाद्य जो टकराकर या किसी वस्तु से आघात कर बजायें जाते हैं 'घन वाद्य' कहलाते हैं। घन वाद्य, ताल–वाद्य भी कहलाते हैं। इसे 'आधा साज' कहा जाता है। बुन्देलखण्ड में झांझ, मंजीरा खड़ताल, चिमटी, चटकोला, घुंघरू, लोटा, घड़ा आदि घनवाद्य के रूप में प्रयोग किये जाते हैं।
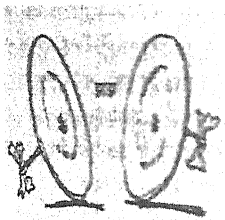
झांझ :– 'झांझ' अत्यन्त प्राचीन ताल –वाद्य है। लोक वादकों एवं लोक गायकों में इसका बहुत प्रचलन है। इसका उल्लेख भरत मुनि के नाट्य शास्त्र, बौद्ध–साहित्य, रामायण, महाभारत आदि पुस्तकों में 'झर्झर' के रूप में मिलता है। यह मंजीरें के आकार –प्रकार का लेकिन बहुत बड़ा होता है। इसका व्यास आ अंगुल से लेकर सोलह अंगुल तक होता है। पीतल अथवा कांसे से बने इस वाद्य के मध्य गहराई वाले भाग में छेद होता है जिसमें डोरी डालकर गांठ बांध दी जाती है। बाहरी डोरी में कपड़े को मोटा बांधकर दोनों हाथो से झांझ के जोड़े को टकराकर ध्वनि पैदा की जाती है।

मंजीरा :– झांझ का छोटा स्वरूप 'मंजीरा' कहलाता है। मंजीरा प्रसिद्ध ताल वाद्य है। चार अंगुल व्यास का छिछला,
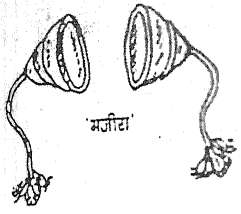
कटोरेनुमा गोलाकार यह वाद्य फूल, पीतल, कांसा तथा अष्ट धातु का बना होता है। गहराई के बीचोबीच एक छिद्र होता है जिसमें सुतली या डोरी पिरोई जाती है। इसकी डोरी को हाथ में लपेटकर जब आपस में टकराकर बजाते हैं तो मधुर ध्वनि उत्पन्न होती है। बुन्देलखण्ड में इस वाद्य का प्रायः देवी–देवताओं की स्तुति, भजन, आल्हा, फाग आदि गीतों के साथ बजाया जाता है।
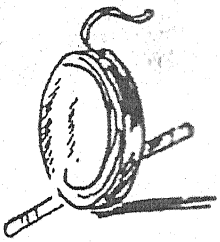
कसावरी :– यह कांसे की धातु से निर्मित थाली की आकृति का कांस्य वाद्य है। इसका आकार थाली से छोटा होता है पर ऊपर छेद करके पकड़ने के लिए एक छोटी रस्सी लगी रहती है। रस्सी को एक हाथ से उठाकर लकड़ी की पतली छड़ी के टुकड़े से पीटकर इसे बजाते हैं।

लोटा :– यह कांसे का होता है इसे सिक्के से बजाया जाता है। इसका प्रयोग प्रायः मांगलिक, संस्कारादि गीतों को गाते समय स्त्रियाँ करती हैं।
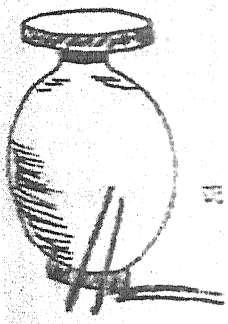
घट–घडा :– काली मिट्टी से निर्मित इसका मुंह अन्य घड़ों की अपेक्षा छोटा होता है। बुन्देलखण्ड में इस वाद्य का प्रयोग विशेषतः कुम्हार, कहार तथा चमार जाति के लोग अपने जातीय गीतों को गाते समय करते हैं। इससे मधुर ध्वनि निकलती है। वादक अपनी बांई हथेली को मटके के मुख पर रखकर थाप देता है। तथा दाहिने हाथ से सिक्के या अन्य धातु के टुकड़े से घड़े के मध्य भाग पर आघात करता है।
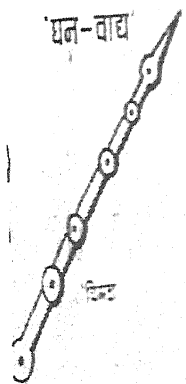
चिमटा :– लोहे की दो–से तीन हाथ लम्बी दो पट्टियों को मिलाकर 'चिमटा' बनता है। इस घन वाद्य का आकार चिमटे की तरह होता है। पट्टियों के बीच में झंकार के लिए लोहे की गोल–गोल पत्तियाँ लगी रहती हैं। बाएं हाथ में एक ओर से चिमटा पकड़कर दाहिने हाथ से अंगूठा और अंगुलियों के झटके से इसे बजाया जाता। इसे लोक कलाकार भजन–कीर्तन गाते समय बजाते हैं।
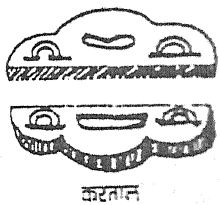
करताल

करताल :– 'करताल' वाद्य यन्त्र को 'खड़ताल' शब्द से भी जाना जाता है। यह वाद्य यन्त्र 9–10 इंच लम्बे तथा 2, 2 इंच चौड़े लकड़ी के दो टुकड़े होते हैं। इसमें दो स्थानों पर पीतल की छोटी–छोटी दो झांझियां लगाई जाती हैं। इसे दोनों हाथों से पहनकर बजाया जाता है। बांए वाले टुकड़े के मध्य अंगूठा तथा दाहिने वाले टुकड़े के मध्य हाथ की शेष चारों अंगुलियों को डालने की जगह बन जाती है। अंगूठे तथा अंगुलियों में पहने इन टुकड़ों को आपस में टकराते हैं जिससे छन–छन की ध्वनि होती है। लोक कलाकार रामायण गाते समय तथा हरि कीर्तन करते समय इसे बजाते हैं।

'घुंघरू'
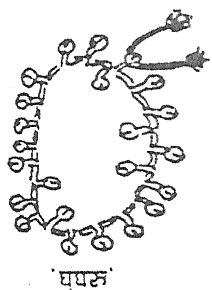
घुंघरू :– घुंघरू कांसे की धातु से बना भीतर से खोखला तथा नीचे की ओर कटा छोटी गोलियों की आकृति का होता है। इसके अन्दर मोटी मटर के दाने जैसे लोहे के गोल टुकड़े होते हैं जो हिलाने से बजते हैं। इन घुंघरूओं को डोरी में पिरोकर चमड़े या कपड़े के पट्टे पर टांक कर पैर में बांधने योग्य बना लेते हैं। कई वादक इसे हाथ में बांध कर अपने वाद्य यंत्र जैसे ढोलक, खंजड़ी आदि को भी बजाते हैं।

(घ) सुषिर–वाद्य

जो वाद्य–यन्त्र फूक कर बजाया जाता है अथवा जिस वाद्य यंत्र में वायु के दबाब को ही घटा–बढ़ाकर स्वर ऊँचा–नीचा किया जाता है उन्हें सुषिर वाद्य कहते हैं। डॉ राधेश्याम जयसवाल का मत है कि "सुषिर–वाद्य लोक वाद्य हैं, लोक में निर्धनता अधिक है अतः सस्ते एवं सुलभ सुषिर वाद्यों को निर्धन एवं निम्न वर्ग के लोगों ने अपना लिया। 'वंशी' इसका अपवाद है। चरवाहों से लेकर अट्टालिका पर रहने वाले प्रेमी बंधु भी वंशी की स्वरावली का आनन्द लेते हैं।"[1] बुन्देलखण्ड में शंख, बांसुरी, बीन, तुरही, शहनाई, मदनभेरी, अलगोजा, रमतूला, टोंटा, पपैया, पुंगी आदि सुषिर वाद्य प्रचलित हैं।
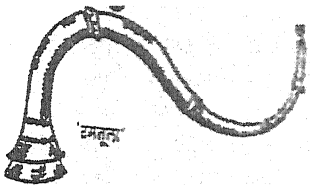
(1) **रमतूला** :– यह तांबे या पीतल से निर्मित होता है। इसका आकार अंग्रेजी वर्ण के 'एस' के समान होता है इसकी नली तीन हिस्सों में बंटी होती हैं जो मुंह की ओर पतली तथा मध्य और अन्त की ओर क्रमशः चौड़ी होती जाती है। संस्कारादि अवसरों पर जाति – विशेष के लोग इसे बजाते हैं तथा एवज में नेग या पारितोषिक पाते हैं।
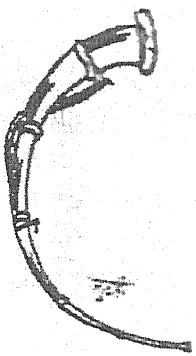
(2) **तुरही** :–तुरही धातु की खोखली नली से बनाई जाती है। जिसका एक किनारा चौड़े मुँह का होता है। और दूसरा किनारा धीरे–धीरे पतला होता जाता है। इस वाद्य यंत्र की लम्बाई लगभग चार हाथ की होती है। इसकी आकृति अर्धचन्द्राकार होती है। बुन्देली जन प्रायः इन्हें मांगलिक अवसरों पर बजाते हैं।

---

(1) डॉ0 राधेश्याम जायसवाल "भारतीय सुषिर वाद्यों का इतिहास पृ0 150

(3) बांसुरी :– यह वाद्य सबसे प्राचीनतम वाद्य है। महाभारत में इसके लिए 'वेणु' शब्द प्रयुक्त हुआ है। बांसुरी, वेणू, मुरली इनके कई नाम हैं। यह मूलतः लोक वाद्य था, जिसे विकसित कर शास्त्रीय बना लिया गया। 'शारंग देव ने लिखा है "यह दो हाथ लम्बी थी जिसमें एक मुख–रन्ध्र तथा चार स्वर–रन्ध्र होने के कारण ये वाद्य शास्त्रीय के अनुपयुक्त था। इस वाद्य का उपयोग लोक संगीत में होता था।"[1] कालान्तर में इसमें सात स्वर विकसित कर इसे शास्त्रीय बना लिया गया फलतः इसका वादन शास्त्रीय तथा लोक जन समान रूप से करते हैं। बुन्देलखण्ड में इसका वादन दिवारी, राई, रसिया तथा फाग आदि पर किया जाता है। इसकी आवाज गम्भीर तथा मधुर होती है। यह बांस, लकड़ी, चन्दन, हाथी दॉत, लोहा, कांसा, पीतल, चॉदी, अथवा सोने की बनाई जाती है। यह मुंह से फूंककर बजाई जाती है। इसके तीन भाग (1) मुख नलिका (2) नली तथा (3) नली के ऊपर समान अन्तर पर छिद्र होते हैं। साधू मदारी लोग भी इसका उपयोग करते देखे जाते हैं।
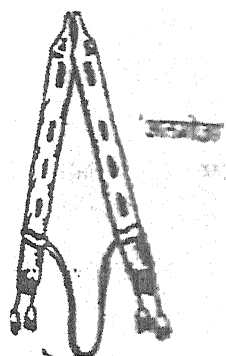
अलगोजा :– अलगोजा का आकार बांसुरी जैसा ही होता है। अलगोजा में प्रायः दो बांसुरी एक साथ होती हैं जिन्हें एक साथ मुँह में दबाकर फूँक से बजाया जाता है। इसकी दोनों नलियों में चार–चार छिद्र होते हैं। ये दोनों नली के ऊपर की ओर डोरी से बंधी रहती है। दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं। लोकवासी जानवरों को चराते समय या किसी मेले आदि के अवसर पर इसका वादन करते हैं। इसके वादन में बड़ी निपुणता की आवश्यकता है।

शहनाई :– शहनाई मांगलिक कार्यों में दरवाजे पर बजाना शुभ माना जाता है। इसलिए इसे मांगलिक वाद्य भी कहते हैं।

---

(1) डॉ0 राधेश्याम जायसवाल "भारतीय सुषिर वाद्यों का इतिहास पृ0 110
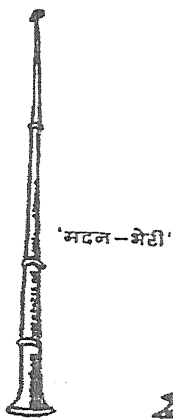
यह अत्यत्न प्राचीन वाद्य है। यह लकड़ी या धातु की बनी बड़ी चिलम की आकृति की होती है। इसके मुंह पर तीन, चार अंगुल लम्बी तांबे या पीतल की नली लगी होती है, जिसके मुख पर ताड़ पत्र या कांसे की दो पत्तियाँ दूध में भिगोकर लगाई जाती हैं। इसके उपर समान अन्तर पर छिद्र बने होते हैं। बुन्देलखण्ड में इस वाद्य का प्रयोग शादी विवाह, उत्सव तथा लोक नाट्यों में किया जाता है इसका स्वर अत्यत्न मधुर व कर्णप्रिय होता है।

'शहनाई'

मदनभेरी :– यह पीतल तथा धातु से निर्मित एक लम्बी नली होती है जो ऊपर की ओर पतली तथा नीचे क्रमशः चौड़ी और गोलाकार होती जाती है। युद्ध की सूचना, सेवा के प्रस्थान तथा राजाओं की सवारियों के निकलने पर इसका प्रयोग होता था। बुन्देलखण्ड में इसका वादन राजा–महाराजाओं के यहाँ मांगलिक अवसरों पर होता था। पर अब इसका प्रयोग यदा–कदा ही दिखाई देता है।

'मदन–भेरी'

बीन :– बीन सपेरों का यह प्रिय वाद्य यन्त्र है। इसकी ध्वनि में सांप को मोहित करने की अदभुत क्षमता होती है। 'बीन' तुम्बे या लौकी के खोल की बनी होती है। तुम्बी के पृष्ठ भाग में बांस या लकड़ी की नली होती है, जिस पर बांसुरी की तरह समान अन्तर पर छिद्र बने रहते हैं। इसकी लम्बाई लगभग सवा हाथ की होती है।

'बीन'

शंख :– यह एक आदि वाद्य है। यह देव वाद्य माना जाता है। शंख का समस्त धार्मिक अनुष्ठानों पूजन आदि में प्रयोग किया जाता है। प्राचीन भारत में युद्ध एवं शान्ति की घोषणा इसके द्वारा ही की जाती थी। 'शंख' समुद्र में रहने वाले जीव विशेष का खोल है। बनावट के अनुसार दक्षिणावर्त तथा वामावर्त इसकी दो जातियाँ हैं। यह अन्दर से बाहर तक घुमावदार होता है। इसके मुख पर फूँक मार कर इसे बजाते हैं। बुन्देलखण्ड में कथा–भागवत आदि के आरम्भ एवं अन्त में इसका बजाना आवश्यक माना जाता है। भगवान की आरती तथा भोगादि में इसका प्रयोग किया जाता है।

टोंटा :– फूंककर बजाया जाने वाला यह वाद्य मंगल वाद्य की श्रेणी में आता है। छः छिद्र वाले इस वाद्य का आकार ऊपर की ओर पतला तथा नीचे की ओर क्रमशः मोटा तथा गोल होता जाता है। इसके मुह में लोहे का एक ढक्कन सा लगाकर इसे बजाते हैं जिसका मुख भाग वाद्य से जुड़ा होता है। बुन्देलखण्ड के कहार जाति के लोग इसे बजाते हैं। इस दृष्टि से यह जातीय वाद्य भी है। विभिन्न संस्कारोत्सव पर जाति विशेष के लोग घर–घर जाकर इसे बजाते हैं।

पपैया और पुंगी :– यह बच्चों का प्रिय वाद्य है। इसके फूंकने पर पी–पी की आवाज आती है। पपैया आम की गुठली का बनता है। गुठली के छिलके के नीचे का मुलायम हिस्सा निकाल कर पत्थर पर घिसा जाता है, जिससे गुठली का अगला भाग घिसकर पतला हो जाता है तथा दोनों दलों के बीच पतली सी खोखली जगह हो जाती है। बच्चे इससे अपना मनोरंजन करते और इससे पी–पी की आवाज बजाते हैं।

'पुंगी' बरगद, पीपल या ताड के पत्तों से बनाई जाती है। पत्तों को गोलाई में मोड़कर इसके पतले हिस्से को दबा देते हैं। फूँकने पर इसमें पी–पी की आवाज निकलती है। बुन्देलखण्ड में आज भी बच्चों को इसे बजाते हुआ देखा जाता है।

पंचम अध्याय

'बुन्देलखण्ड के लोकगीतों एवं लोकनृत्य–गीतों के साथ बजाये जाने वाले लोक–वाद्यों की वादन शैली' (बजौटी)

देशी संगीत के विकास की पृष्ठभूमि लोक–संगीत है। भाव रस और ध्वनि की धारणा भारतीय कला की एक विशेषता है। ये धारणायें लोक कलाओं में कलाकारों एवं श्रोताओं के मन को अनुरंजित करती हैं। श्री मतंग द्वारा रचित वृहद्देशी ग्रन्थ देशी संगीत का प्रमाणिक एवं प्राचीन ग्रन्थ है।

लोकवाद्य, लोक संगीत एवं लोक नृत्य का समुच्चय ही लोक संगीत है। इसमे किसी प्रकार का कोई बंधन नही होता है। अलग–अलग प्रान्त के अनुसार तथा अवसरों के अनुसार लोक भजन, अचरी, चैती, फाग, संस्कार गीत आदि प्रकारों तथा सैरानृत्य, दिवारी, राई, ढिमरियाई ,जवारा आदि की रचना की जाती है। गीत प्रकारों एवं नृत्यगीत प्रकारों के साथ संगत करने में लघुतालों का या निश्चित छोटी–2 मात्रा के बोल समूहों का वादन होता है। ऐसे वादन में तालों के शास्त्रीय नियम का पालन नही होता है। बल्कि गीत के वजन के अनुसार वाद्य की बजौटी होती है।

यद्यपि लोक संगीत के कई गीत प्रकारों के साथ समान मात्राओं का तथा समान खण्डों का निर्वाह होता है। तथापि गीत प्रकारों के वजन में अन्तर होने से वाद्यों की बजौटी में अन्तर आ जाता है।

"लोक धुनें लयबद्ध होती हैं। लय सूचक कोई वाद्य लोक धुन गाते समय न बजाये जाने के कारण ऐसा भास होता है कि केवल धुनों में स्वर का महत्व है। परन्तु अधिक ध्यान दिया जाये तो लय स्पष्ट दिखाई देती है। नृत्य के साथ जो धुनें गायी जाती हैं, उनमें

लय ढोलक की संगति के कारण स्पष्ट व्यक्त होती है।''[1]

लोक धुनों में प्रायः दो प्रकार की लय दिखाई देती है। पहले समान भाग की लय, जो सरल होती हैं और दूसरी क्लिष्ट विभाजन की लय जिसके विभाग असमान होते हैं।

लोक गीतों अथवा ग्राम गीतों के साथ अधिकतर लय व ताल दिखलाने वाले वाद्यों का ही उपयोग अधिक हुआ है। स्वतंत्र वादन का विकास लोकसंगीत में कम दिखाई देता है।

लोक संगीत में स्वतंत्र गायन से अधिक सामूहिक गायन का महत्व है और इसमें स्वर की अपेक्षा लय का भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक प्रभाव दिखता है।

लोक में अधिकतर देखने को मिलता है कि लोकगीतों के साथ लयवाद्यों का प्रयोग करने वाले वादकों को तालशास्त्र का विधिवत ज्ञान तक नहीं होता फिर भी वे इतनी सुन्दरता एवं चतुरता से संगत करते हैं कि आश्चर्य होता है। यद्यपि उन्हें शास्त्र का ज्ञान नहीं होता है फिर भी वे लोकगीतों एवं लोकनृत्य गीतों के साथ 2 मात्रिक, 3 मात्रिक, 4 मात्रिक कभी कभी 2–3 या 3–4 मात्रा काल खण्डों का निर्वाह इतनी श्रेष्ठ लयात्मकता के साथ करते हैं कि अच्छे–2 संगीत शास्त्रज्ञ व तालशास्त्रज्ञ आश्चर्यचकित हो वाह–वाह कर बैठते हैं। जबकि इन लोकवादकों को तालों के बोलों की जगह– 'चकई क चकदुम' या 'बकरी की तीन टांग' (ये इनकी तालों के बोल हैं) भी कहते सुना गया है।

बुन्देलखण्ड में लोकसंगीत में प्रयुक्त होने वाले घन व अवनद्ध वाद्यों में ढोलक, मंजीरा, ढप, ढफली, झांझ , करताल, ढाक, धौंसा, नगाड़ा, ताँसा, घट, लोटा, चिमटा आदि –2 हैं। ढोलक इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। ढोलक के वादन में अद्भुत विकास दिखाई देता है। कई–2 ढोलक वादक तो तबले के बाज को भी ढोलक पर निकाल कर चमत्कृत कर देते हैं। किंतु लोकगीतों में ढोलक पर ही सरल लय–ताल दिखाना पर्याप्त है।

---

(1) सम्मेलन पत्रिका (लोक संस्कृति अंक) श्री कुमार गंधर्व, पृ0 –305

"नाट्यशास्त्र के वाद्याध्याय' में संस्कार गीत आदि में अलग–2 प्रकार के ताल वाद्यों के वादन का उल्लेख (33/20/23) किया है" [1] लोकगीतों में अधिकतर दादरा, कहरवा, खेमटा और दीपचन्दी (चांचर) तालों का प्रयोग हुआ है। इन तालों के विभागों और ताली खाली से जो 'वजन' अथवा 'लय' की चाल बनती है, वह अत्यन्त सरल, सहज और सुग्राह्य होती है। मानव की भावाभिव्यक्ति के लिए ये तालें पर्याप्त हैं। हर्ष, उत्साह, उल्लास, स्फूर्ति, वीरता आदि भाव आठ मात्रा अर्थात 'कहरवा' ताल के उपयुक्त हैं। दादरा व खेमटा का उपयोग श्रंगार में भी होता है। 'दीपचन्दी' ताल तो करूण व श्रंगारं के लिए विशेष उपयुक्त है।

हालांकि ये नियम अटल न होकर शिथिल हैं। उपर्युक्त तालों का प्रतिकूल रसों में भी प्रयोग दिखाई देता है। अधिकतर द्रुत लय का प्रयोग लोकगीतों में दिखाई देता है। विलम्बित लय का प्रयोग लोकगीतों में नहीं के बराबर है। दीपचन्दी का द्रुत एवं मध्य लय में प्रयोग होता है।

कई लोकगीतों की विशेषता होती है कि उनके स्वरों के उतार–चढ़ाव तथा 'लय' से ही उस लोकगीत के विशेष भाव व्यक्त होते हैं। प्रत्येक गीत की अलग–2 लयात्मकता होती है। जिसके कारण दो अलग–2 समान मात्रिक विभागों एवं तालों में गाए जाने वाले गीतों में एक ही प्रकार के बोलों के निर्वाह एवं वजन में अन्तर होता है। इसी प्रकार विशेष गीत प्रकारों के साथ विशेष लय वाद्य का प्रयोग भी महत्व रखता है जैसेः– आल्हा व फाग के साथ ढोलक, ढिमरियाई नृत्य के साथ मृदंग, नौटंकी में नक्कारा, तमाशे में ढोलकी, ख्याल गायन के साथ ढफली, गोटों के साथ ढाक तथा संस्कार लोकगीतों के साथ प्रायः ढोलक एवं मंजीरा बजाया जाता है।

शान्ति अवस्थी जी ने 'लय' को तन्मयता की चरम स्थिति माना है। वे कहती हैं –"तन्मयता की चरम स्थिति लय है। किसी स्थिति में तन्मयता लाने के लिए इस झंकार की

(1) नाट्यशास्त्र (वाद्याध्याय) 'भरत', (33/20/23)

आवश्यकता है। इसीलिए लोकगीतों में हृदय को तन्मय करने के लिए लय (झंकार) की आवश्यकता पड़ी। फलस्वरूप वाद्यों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। लोकजीवन से लेकर साधना –पथ तक इस झंकार का अपना महत्व है। कबीर ने हृदय वीणा से झंकृत होने वाली इसी झंकार को अनहदनाद की संज्ञा दी है। नृत्य में इसी (झंकार या लय) के दो रूप हो जाते हैं : ताण्डव में अन्तिम विनाश की अवस्था का प्रदर्शन और लास्य में सृजन की मुस्कान का मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्तिकरण। इन्हीं आधारों पर मैं इसे तन्मयता की अवस्था से उत्पन्न लय की स्थपना को लोकवाद्यों की आवश्यकता का कारण मानती हूँ'' ।[1]

अर्थात लोकगीत मानव हृदय की प्रकृत भावनाओं की तन्मयता की तीव्रतम अवस्था की गति हैं, जो स्वर और ताल को प्रधानता न देकर लय या धुन (ध्वनि) प्रधान होते हैं।

''भरत के काल में भी ताल के ठेके होने का कोई उल्लेख नहीं है। वर्णोच्चार भेद, जोरभार (वजन) भेद, अंगभेद के अनुसार पाटाक्षरयुक्त वादन होता था''[2] अर्थात गीतों के लयात्मक आधार पर वादन होता था।

बुन्देलखण्ड के लोकगीतों एवं लोकनृत्य गीतों के साथ बजने वाले वाद्यों की बजौटी में भी 'लय' के विभिन्न एवं विशेष भाव व्यक्त हुए हैं। सम–मात्रिक एवं विषम मात्रिक विभागों में लोकगीतों की बजौटी दिखाई देती है। दीर्घ मात्रिक तालों का अद्धा बनाकर बजाने की प्रथा है। जिससे लय द्रुत हो जाती है और पूर्ण रंजकत्व आ जाता है।

विषम की अपेक्षा सममात्रिक ताल खण्डों के ठेके अधिक लोक प्रचलित है एवं सहज भी।

एक ही प्रकार ठेके को भिन्न–2 प्रकार से गीतों की आवश्यकतानुसार बजाया गया है।

---

(1) 'सम्मेलन पत्रिका '(लोक संस्कृति अंक) लेख –शान्ति अवस्थी पृ0 361

(2) 'ताल वाद्य शास्त्र' –डा0 मनोहर भालचंद्र राव मराठे, पृ0 71।

कहीं–2 लय को दुगुनी, चौगुनी कर तिहाई लेकर सम पर आने से उसमें अधिक रंजकता दिखाई दी है।

किन्हीं –2 लोकगीतों में मात्र दो विभाग में ताली खाली दिखाकर बजाया गया है जो कर्णप्रिय होने के साथ –2 ध्यानाकर्षित करता है।

एक ही लोकगीत या लोकनृत्य गीत में कई वाद्यों का मिश्रण विविधता पैदा करता है। केवल वजन का अन्तर होता है। कभी 'धिं' पर अधिक जोर दिया जाता है, तो कभी 'ता' पर। यह गायक एवं नर्तक के 'पदचाप' एवं भावों पर एवं उसके मूड पर निर्भर करता है। कभी सम छोड़कर कभी सम पकड़ता है।

कभी–2 किसी गीत में वाद्यों की बजौटी एक लम्बी लड़ी के साथ शुरू होती है फिर तिहाई लेकर ठेके पर आते हैं। कभी–2 तिहाइयों के स्थान पर छोटे–2 मोहरों का प्रयोग किया जाता है। कभी–2 ठेकों को पलट भी देते हैं। जिससे लयात्मक स्वरूप बदल जाता है, और लयकारी दिखाई देने लगती है।

किन्हीं –2 लोकगीतों या लोकनृत्यगीतों में दादरा यानि 6 मात्रा एवं कहरवा 8 मात्रा साथ–2 चलती है। नृत्य के पदचाप एवं गीत की मांग के अनुरूप बदलते जाते हैं।

उपर्युक्त के अनुसार बुन्देलखण्ड के उन विशेष लोकगीतों एवं लोकनृत्य गीतों का विश्लेषण उनकी बजौटी के साथ किया जा रहा है।

'गढ़ाकोटा की राई' (नृत्य)

बुन्देली नृत्य विधाओं में राई प्रमुख नृत्य है। इसको समूह में किया जाता है इस नृत्य को बेड़िनी जाति विशेष की स्त्रियाँ ही करती हैं। कम से कम दो तथा अधिक से अधिक 5 कलाकार भाग लेती हैं। यह नृत्य खुले स्थान (चौपाल) आदि में किया जाता है। इस नृत्य में

प्रमुख रूप से ढोलक या पखावज, नगड़िया झींका मंजीरा (कांसी) बजाया जाता है। तथा इन वाद्यों को कमर में बॉध कर बजाया जाता है। जन समूह गोल बड़े घेरे में खड़ा होता है तथा बीच में नृत्य किया जाता है। नृत्य कलाकार के साथ संगतकार भी चल कर साज बजाते हुये चलते जाते हैं। नृत्य कलाकार स्वयं ही पद गायन करते हैं। जो कि मुख्य रूप से दो पंक्तियों का होता है। गायन विलम्बित लय से प्रारम्भ होता है। तथा धीरे–धीरे प्रत्येक पद के बाद लय बढ़ती जाती है। दो प्रकार की राई बुन्देलखण्ड में देखने को मिलती है। प्रथम प्रकार की राई जिसे "गढ़ाकोटा की राई कहते हैं। दूसरा प्रकार "देशी राई" कहलाता है। "गढ़ाकोटा" का राई नृत्य ताल दादरा से विलम्बित लय से प्रारम्भ होता है। शास्त्रीय रूप से ताल दादरा का वादन नहीं होता है। क्योंकि लोक शास्त्रीयता के बन्धन को स्वीकार नहीं करता है। लोक तो भाव प्रधान है। उन्मुक्त पहाड़ी नदी की तरह होता है। वह तो गायक या नृत्य कलाकार के पद चाप के अनुसार ताल के प्रकार (बनावट) का चुनाव कर लेता है। चूंकि कहरवा एवं दादरा ताल नैसर्गिक लय साम्य है अतः लोक के वादक इन्हीं लय साम्यों को ही अधिक पसन्द करते हैं। इनके वादन में दादरा एवं कहरवा के लय साम्य ही अधिक सुनाई पड़ते हैं। गढ़ाकोटा की राई के पद इस प्रकार के होते हैं।

"गोरी रे उठ कर लेओ सिंगार
मेड़े पे आ गये रे तोरे बालमा"

साखी–'अरे पैलऊ गा लएं रे, गौरा के गनेस
सुर खों मना लए मइयां सारदा'

पद :– 1– गोरी रे उठ कर लें सिंगार, मेड़े पे आ गए तोरे बालमा
अरे हरे मेड़े पे आ गए तोरे बालमा

2– अरे राजा रे कैसे कर लए बिस्वास, मोखों भरोसे रए नइयां

3– अरे देवरा रे कैसे कर लए बिस्वास, मोखों भरोसे रए नइयां

4– अरे खोल रई ती किवार, बेदर्दी आए नइयां------

अरे लीली बछिड़िया चितकबरू पतरइया सवार

देखई न पाए नजर भर के, अरे खुल रई ती किवार -----

5– अरे बालापन की यारी होय टोरो नै यार

टोरैं से दुख होवे, बालापन की चिनार, बेदर्दी आए नइयां----

6– अरे द्वारे में से कढ़ गए, हेरी बोले नै यार, हेरत रई हमई कों-----

7– अरे द्वारे में से कढ़ गए, हेरै नै यार

देखत रई गैल तुम्हारी, खोले रई ती किवार, बेदर्दी आए नइयां----

गीत के प्रारम्भ होते ही पखावज में तराश मारते हुये ठेका प्रारम्भ होता है। पखावज पर ता बजाते हैं जो कि 'दिं' सुनाई पड़ता है। नगड़िया भी साथ में बजती है। विलम्वित लय में दादरा ताल का ठेका कुछ प्रकार से बजाया जाता है।

दिं तक दिं। तक धा धा

गीत की दूसरी पंक्ति को कई बार गाया जाता है। साथ ही पखावज तथा नगड़िया एक साथ बजते हैं। जिससे ठेके का स्वरूप कुछ इस प्रकार सुनायी पड़ता है।

धा	ऽ	धिं	।	तक	धिं	न्ना
धा	धिं	ऽ	।	तक	धिं	न्ना
धा	तर्र	रक	।	धा	तर्र	रक

इस ठेके में नगड़िया के तर्र रक बोल की प्रधानता रहती है। पखावज पर सिर्फ धा, धिं, धिन्ना ही सुनाई पड़ती है। स्थाई के बाद लय बढ़ती जाती है। तथा नगड़िया पर तर्रक

बोल की लड़ी बाँध दी जाती है। जो एक आवर्तन या दो आवर्तन तक जाती है तथा इसी में तिहाई लगाकर कहरवा ताल प्रारम्भ हो जाती है। प्रत्येक अन्तरे के बाद लय बढ़ती जाती है। और ठेके के प्रकार बजाये जाते हैं। आगे लिखे हुये कहरवा के प्रकार एक के बाद एक बदलते हुये बजाये जाते हैं। लोक वादक को शास्त्र का ज्ञान नहीं होता है। वह तो अपनी मस्ती में बजाते हैं। तथा नर्तक के पद चाप तथा गीत के भावानुसार प्रकार बदलते रहते हैं। कभी कभी केवल नगड़िया बजती रहती है। तथा पखावज पर कवल ता, धा या दिं ही बजाते रहते हैं।

राई का ठेका

1	2	3	|	4	5	6	
दिं	तक	दिं	|	तक	धा	धा	
धा	S	धिं	|	तक	धिं	ना	
धा	धिं	S	|	तक	धिं	ना	
धा	तर्र	रर्क	|	ता	तर्र	रर्क	—नगड़िया का बोल

बाद में तिहाई लगा कर सम पर आते हैं।

ठेका दुगुन में

1	2	3	4	|	5	6	7	8
तर्रक	तर्रक	तर्रक	तर्रक	|	तर्रक	तर्रक	तर्रक	तर्रक

तिहाई

					|				
	धिं	Sता	Sक	धिं	|	धिं	धिं	ता	ता
1–	ताS	कता	Sक	धिं	|	ताS	कत	Sक	धिं
2–	धा	धिंधिं	तक	धिंधिं	|	ता	तितिं	तक	धिंधिं

3–	S	धिं	ना	ड़ा	S	तिं	ना	ड़ा
4–	धा	धिन्ना	तक	धिन्ना	ता	तिन्ना	नक	धिन्ना
5–	धा	धिन	तक	धिन	ता	तिन	तक	धिं
6–	धगि	नधि	नक	धिन	ताति	नति	नक	तिन
7–	धातिट	तातिट	तातिट	धातिट	धातिट	तातिट	तातिट	धितिट
8–	धिSSता	SकताS	धिंधिं	ताता	तिंSSता	SकताS	धिधिं	ताता
9–	धगतधि	नकधिन	तगतति	नकतिन	धागतधि	नकधिन	तगतति	तकधिन
10–	धाधिSधि	नकधिन	तातिSति	नकधिन	धाधिंSधि	नकधिन	तातिंSतिं	नकधिन
11–	Sता	Sता	Sधा	Sधा	Sता	Sता	Sध	Sधा
12–	SS	ताता	SS	धाधा	SS	ताता	SS	धाधा
13–	SS	दिंS	SS	दिंS	SS	दिंS	SS	दिंS

तिहाई

1	2	3	4	5	6	7	8
Sता	Sता	Sता	Sता	Sता	Sता	Sता	Sता
धिंSSता	Sताकधिं	धिंधिं	ताता	धिंSSता	Sताकधिं	धिंधिं	ताता
धा	तर्रक	ता	तर्रक	धा	तर्रक	ता	तर्रक
धिंSSता	Sताकधिं	धिंधिं	ताता	धिंSSता	Sताकधिं	धिंधिं	ताता

'देशी राई–नृत्य'

बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध नृत्य राई के दूसरे प्रकार को देशी राई कहा जाता है। देशी राई तथा गढ़ाकोटा की राई में थोड़ा अन्तर होता है। इस राई नृत्य में कम से कम दो, और अधिक से अधिक पॉच नर्तक कलाकार होते हैं। यह नृत्य चौपाल या खुले मैदान में किया जाता है। इस नृत्य में एकत्रित जन समूह वृत्ताकार खड़ा होता है। वृत्त के केन्द्र में नृत्य किया जाता है। नृत्य में स्त्री पुरूष दोनों ही भाग लेते हैं। जिनकी संख्या सम विषम कुछ भी हो सकती है। नृत्य में संगत करने वाले संगत कार सभी पुरूष वर्ग के होते हैं। नृत्य के साथ बजने वाले वाद्यों में ढोलक या पखावज, नगड़िया झींका, मंजीरा तथा अलगोजा आदि होते हैं। देशी राई तथा गढ़ाकोटा की राई के पद में अन्तर होता है। तथा लय एवं ताल में अन्तर होता है। गढ़ाकोटा की राई में कहरवा ताल का अधिकांश प्रयोग होता है, जबकि देशी राई में कहरवा एवं दादरा दोनों ही ताल का प्रयोग होता है। जो कि लयकारी के सदृश सुनायी पड़ता है। देशी राई के गीत में प्रश्नोत्तर की शैली का प्रयोग अधिक होता है। स्त्री एवं पुरूष दोनों एक दूसरे के प्रश्नों का उत्तर देते हैं। नृत्य का प्रारम्भ होने से पहले गीत की दो पंक्तियाँ ताल रहित गाई जाती है। जो विलम्बित लय में रहती है। देशी राई के इस नृत्य गीत का प्रारम्भ ताल दादरा से होता है। जो कि मध्य लय में होता है।

अरे भौजी रे अरे काय मार गई रार
अरे तेहारी अरे तोरे लाभ भए

देखो रे देवरा के सरीर
बिस दैके मारे मोरे बालमा

नदिया रे तेरे औघट घाट
कां हां निकर गए मोरे बालमा

छैला रे तोय ऐसो नवाए
जैसें नदी को गोंदरा

गोरी रे मोरी भर गई देह
तोरे नवाए नै नभौ

इसी के साथ वाद्यों का बजना प्रारम्भ होता है। सभी वाद्य एक साथ बजते हैं। जो सुमधुर प्रतीत होता है। उनमें किसी एक वाद्य को अलग सुनना असंम्भव सा प्रतीत होता है। ढोलक तथा नगड़िया के साथ ताल दादरा के लय साम्य दिखते हैं। ताल दादरा के बोल इस प्रकार सुनायी पड़ते हैं।

धा	तड़	तड़	ता	तड़	तड़
धा	तड़	तड़	तक	धिं	न्ना
धा	धिं	न्ना	तक	धिं	न्ना
धिं	तड़	तड़	SS	धिं	न्ना

गीत की दूसरी पंक्ति को कई बार दुहराया जाता है। ताल वाद्यों में इन्हीं की आवृति होती रहती है। स्थाई तथा अन्तरे के बीच समयान्तर में संगतकार नृत्य के पद चापों के अनुसार प्रकारों में परिवर्तन करते है।

	धा	तिं	तिं	तक	धिं	धिं
(नगड़िया पर)	कड़ान	तड	तड	कड़ान	तड़	तड़
	धा	धिं	तक	ता	धिन	तक

धग	धिं	ना	तग	तिं	न्ना
ताऽ	कता	ऽक	धिं	तक	धिं

इस नृत्य में संगतकार ढोलक तथा नगड़िया कमर में बाँध लेते हैं। क्योंकि नृत्य कलाकार पूरे वृत्त में घूम घूम कर नृत्य करते हैं। संगतकारों को भी नृत्य कलाकारों के साथ चल चल कर बजाना पड़ता है। स्थाई तथा अन्तरे के मध्य जो अन्तराल रहता है उसमें नृत्य की लय थोड़ी बढ़ जाती है तथा ताल में भी अन्तर आ जाता है। ताल दादरा के लय साम्य ना दिख कर ताल कहरवा के खण्ड दिखने लगते हैं। वजन को ध्यान में रखकर सुना जाय तो स्पष्ट कहरवा ही लगता है, जो कर्ण प्रिय होने के साथ रोमांच पैदा करता है। ढोलक तथा नगड़िया मिल कर इस प्रकार का ठेका बजाते हैं जिसमें ताल दादरा तथा ताल कहरवा दोनों का निर्वाह किया जा सकता है। अन्तराल समाप्त करने के लिये तिहाई या छोटे छोटे मोहरों का प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक अन्तरे के बाद लय बढती जाती है। अन्तरे की पहली पंक्ति के साथ खाली के बोल बजाये जाते हैं।

तातिंऽति	नकतिंऽ	तातिंऽति	नकतिंऽ

दूसरी पंक्ति के साथ भरे बोल बजाये जाते हैं।

धागधि	नागिन	तागति	नागिन
धातिंति	ताधिंधिं	धाधिंधिं	ताधिंधिं
धागेनति	नकधिन	धागेनति	नकधिन
धातिंतिं	नकधिंधिं	धतिंतिं	नकधिंधिं
धातकत	किटधिन	तातकत	किटधिन

धित	धागे	तित	ताऽ	तत	धागे	धित	ताऽ
तर्रक	तर्रक	धा	तकधिन	तर्रक	तर्रक	धा	तकधिन

धा	धाती	नक	धिन	ता	धाती	नक	धिन
तत	क,ता	ऽक	धिंऽ	तत	कता	ऽक	धिंऽ
तर्रक	तर्रक	तर्रक	तर्रक	धिंताऽक	धिन	धिंधिं	ताता

इस की तिहाइयों का प्रयोग किया जाता है। तिहाई लेने या मुखड़े मोहरे बजाने का कोई नियम नही है। वह तो वादक की मस्ती है अथवा नर्तक के पद चाप या गीत के भाव के अनुसार कहीं तिहाई या मोहरे का प्रयोग करते हैं। लय के चरमोत्कर्ष पर गीत तथा नृत्य की समाप्ति होती है।

'ढिमरयाई–नृत्य'

ढिमरयाई बुन्देलखण्ड के प्रमुख नृत्यों में से एक है यह ढीमर जाति के लोगों द्वारा किया जाता है। इसीलिये इसका नाम ढिमरयाई पड़ा। यह नृत्य पुरूषों के द्वारा किया जाता है। नर्तक केवल एक पुरूष होता है। इस नृत्य के साथ ढोलक मंजीरा, ढपली, लुटिया आदि बजते हैं तथा नृर्तक अपने हाथों में केंकड़िया लिये रहता है। इस प्रकार नर्तक अकेले तीन दायित्वों (गायन, केंकड़िया वादन एवं नृत्य) का निर्वाह करता है। बुन्देली लोकगीतों में ढिमरयाई गीत की धुन अलग प्रकार की होती है। तथा उसके साथ बजने वाली ताल का प्रकार भी अलग होता है। जो अलग से पहिचाना जा सकता है। यह नृत्य उत्सव परक नृत्य है। त्यौहारों या पारिवारिक उत्सव के समय अपने समाज के समक्ष यह नृत्य किया जाता है। इस में नर्तक धोती, बन्डी, पहिनता है। एक अगौंछा सिर तथा एक अगौंछा कमर में बांधता है। पैरों में घुंघरू तथा हाथों में केंकड़िया लिये रहता है। नृत्य का प्रारम्भ केंकड़िया से होता हैं। केंकड़िया से वह आधार स्वर निर्धारित करता है। फिर साखी बोलता है।

"सदा भवानी दाहिने सम्मुख रहे गणेश

तीन देव रक्षा करें ब्रहमा बिस्नू महेश"

इसके बाद गीत का प्रारम्भ हाता है।

"घेर में नार लगें प्यारी, जींसै चलें दुनिया सारी

सबसे पैले उठे सबेरी, झारा पौंछी कर डारी।।"

गीत के साथ ही अवनद्य वाद्य शुरू होते हैं। स्थाई अन्तरे के बीच के समयान्तर को कॅकड़िया की धुन बजाकर द्वारा पूरा किया जाता है। इस नृत्य में नगड़िया का प्रयोग लड़ी के रूप अधिक रहता है, जो कि तिहाई लगा कर समाप्त होता है। इस नृत्य में कहरवा ताल का प्रयोग होता है। नृत्य के ठेके के प्रकार की यह विशेषता रहती है कि सुनने में दादरा ताल सा लगता है। इस प्रकार के ठेके में 'दादरा एवं कहरवा' दोनों की लय दिखाकर ही गाया जा सकता है। ठेका चौगुन की लयकारी में बजता है। कहरवा में दादरा ताल की लयकारी दिखती है। ढोलक पर जो कहरवा के प्रकार बजाये जाते हैं, उनमें ज्यादा विविधता नहीं होती है वह एक या दो प्रकार के होते हैं। लेकिन उसमें नगड़िया का मिश्रण विविधता पैदा करता है केवल वजन का अन्तर होता हैं। कभी धिं पर अधिक वजन दिया जाता हैं तो कभी ता पर। यह नर्तक के पद चाप एवं भावों पर तथा वादक के मूड पर निर्भर करता है। कभी कभी केवल 'ता' ही बजाते है

1	2	3	4	5	6	7	8
धिंता	गता	तिंता	गता	धिंता	गता	तिंता	गता
धितधा	ऽगधा	तितता	ऽगता	धितधा	ऽगधा	तितता	ऽगता
ऽता	ऽगता	ऽता	तागता	धिंता	तागता	ऽता	गता

इन्ही प्रकारों को पलटते रहते हैं। जिसमें नवीनता दिखाई देती है। स्थाई एवं अन्तरे के बीच समयान्तर के भराव के लिए नगड़िया पर लड़ी सी बनाकर बजाते हैं। जो एक

आर्वतन तक चलती है।

1	2	3	4		5	6	7	8
तर्र	रक	तर्र	रक	|	तर्र	रक	तर्र	रक

इसके बाद तिहाई के रूप में सीधा 'धातड़' बजाते हैं। जिसमें 'धा' ढोलक पर बजाते है। 'तड़' नगड़िया पर बजाते हैं।

धा तड़ धा धा तड़ धा धा तड़ | धा

तिहाई बजाने के बाद पुनः उसी ठेके पर आ जाते हैं। ढिमरयाई नृत्य की समाप्ति एक ही तरह की तिहाई से होती है। जो बारह मात्रे की होती है।

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	|
ऽऽ	ऽता	ऽक	धिं	धा	ऽता	ऽक	धिं	धा	ऽता	ऽक	धिं	| धा

'कांडरा–नृत्य'

कॉंडरा नृत्य एक जातीय नृत्य है। यह नृत्य धोबी समाज का नृत्य हैं जिसे धोबी जाति के लोग अपने समाज के समक्ष करते हैं। यह नृत्य उत्सव के समय किया जाता है। यह नृत्य पुरूष प्रधान है, इस नृत्य एक पुरूष करता है। इस नृत्य का परिधान धोती, अंगरखा, साफा हैं। नृत्य के समय पैरों में घुंघरू एवं हाथों में केंकड़िया वाद्य रहता है। नर्तक नृत्य के अलावा गाता एवं केंकड़िया भी बजाता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति तीनों काम एक साथ करता है। इस नृत्य में पखावज, मंजीरा, लोटा एवं केंकड़िया का वादन किया जाता है। इस नृत्य के समय समाज के लोग गोल घेरे में बैठते हैं। बीच में नर्तक नृत्य करता है। नृत्य का प्रारम्भ केंकड़िया वादन से होता है। इस नृत्य में भी पहले साखी गायी जाती है।

''सबखों मेरी बन्दगी, मितरन कों परनाम

का छोटे और का बड़े सब खों सीता राम।।''

साखी के बाद गीत प्रारम्भ होता है।

''बलमा मिल गये होरी में खुशी भयी मोरे मन में''

गीत के साथ अवनद्ध वाद्यों का प्रारम्भ एक लम्बी लड़ी के साथ होता है। पखावज पर धातिं धातिं धातिं धातिं लड़ी बजायी जाती है। तत्पश्चात ठेका प्रारम्भ होता है। यह नृत्य 'कहरवा –ताल' में होता है। इस नृत्य के साथ बजने वाले वाद्यों में 'लुटिया' एवं 'मंजीरा' की अधिकता है। स्थाई एवं अन्तरे के बीच का समयान्तर केंकड़िया– वादन' के द्वारा पूर्ण किया जाता हैं।

धिं ताकधिंधिं ताकधिं इस प्रकार ठेके को उलट–पलट कर इसके कई प्रकार बजाये जाते हैं।

1	2	3	4	5	6	7	8
धिंऽऽता	ऽकधिंऽ	धिंऽऽता	ऽकधिंऽ	तिंऽताऽ	ऽकधिंऽ	धिंऽऽता	ऽकधिंऽ
ताऽकता	ऽकधिंऽ	ताऽकता	ऽकधिंऽ	धिंऽऽता	ऽकधिंऽ	धिंऽधिंऽ	ताऽताऽ
धातड़	धातड़	धातड़	धातड़	धातड़	धातड़	धातड़	धातड़

इस नृत्य में तिहाइयों का अल्प प्रयोग है। तिहाइयों के स्थान पर छोटे–2 मुहरों का प्रयोग किया जाता है। लुटिया तथा मंजीरें का प्राबल्य होने के कारण पखावज की आवाज कम ही सुनायी पड़ती है। फिर नृत्य के पद चापों के अनुसार ठेके के बोलों पर वजन देकर नये प्रकारों का प्रयोग होता है। लोक में वादन का नियम नहीं है ना कोई शास्त्र है वह तो वादक की अपनी मस्ती है। वह कभी प्रारम्भ के बोलो पर वजन देता है, तो कभी बीच में कभी, अन्तिम बोलों पर वजन देता है। अधिकांश ठेके के प्रकार को पलट दिया जाता है। जिससे लयात्मक स्वरूप बदल जाता है, और लयकारी दिखाई देने लगती है। यद्यपि लोक वादकों को यह पता

नहीं होता है कि वह क्या कर रहे हैं, क्योंकि शास्त्र का उन्हें ज्ञान नहीं है। इन्ही प्रकारों को जब तबले पर बजाना पड़े तो वादक उसकी लय एवं लयकारियों को ध्यान में रखकर बजायेगा। किन्तु लोक वादक नियम एवं शास्त्र से दूर अपनी मस्ती में रहता है। वह स्वच्छन्द रहता है। एवं नर्तक के हाव–भाव उसके पद चापों के अनुसार अथवा गीत की मांग के अनुरूप ही ठेके के प्रकार बजाता है जो उसके स्वयं के विवेक के ऊपर निर्भर करता है।

'बरेदी–नृत्य'

यह नृत्य जाति परक के साथ साथ उत्सव परक भी है। इस नृत्य को अहीर जाति के लोग करते हैं यह नृत्य दीपावली से कार्तिक पूर्णिमा तक चलता है। इसे पशु चराने वाले लोग (जिन्हें बुन्देलखण्ड में 'बरेदी' कहा जाता है) करते हैं। इस नृत्य में पुरुष वर्ग ही भाग लेते हैं। जिनकी संख्या कितनी भी हो सकती है। इस नृत्य में मुख्य रूप से बाँसुरी एंव अलगोजा बजाया जाता है। अवनद्ध एवं घन वाद्यों में ढोलक, मंजीरा, नगड़िया, तांसा, एवं झींका बजाया जाता है। इसमें नगड़िया तथा तांसा का प्राबल्य रहता है। इस नृत्य को गोल घेरे में करते हैं। जिसमे नर्तक तरह–2 के पिरामिड बनाते हैं। इस नृत्य में बीच–2 में रूककर दो–दो पंक्ति के दोहे गाए जाते है। इसमें वाद्य वृन्द की तरह का वादन होता हैं जिनमें कहरवा एवं दादरा इन दो तालों का प्रयोग होता है। आठ तथा छह मात्रा में ठेके के प्रकार बजाये जाते हैं। बीच में लड़ी एवं तिहाइयों का प्रयोग होता है। दोनों ताले एक के बाद एक नृत्य के पदचाप के अनुसार बदलते रहते हैं। जिनके प्रकार इस तरह से हैं।

कहरवा

ऽधिं	नाड़ा	ऽतिं	नाड़ा	ऽधिं	नाड़ा	ऽतिं	ताड़ा
तर्र	रक	तक	धाऽ	तर्र	रक	तक	ताऽ

धाऽ	तक	तक	धिंऽ	ताऽ	तक	तक	तिंऽ
धागत	धातक	तागत	तातक	धागत	धातक	तगत	तातक
धाती	धागे	धिन	गिन	ताती	तागे	तिन	किन
धाऽ	ऽत	तक	धिन	ताऽ	ताऽ	तक	तिन
धित	धागे	धिन	गिन	तित	धागे	तिन	किन
ताऽ	क,ता	ऽक	धिन	ताऽ	क,ता	ऽक	तिन

ताल दादरा

धा	तर्र	रक	ता	तर्र	रक
तगत	तगत	धिन	तगत	तगत	तिन
धागे	धिना	गिन	तागे	तिना	किन
धित्त	धाग	धाऽ	तित्त	ताग	ताऽ

तिहाई

1– तर्र रक   धाऽ तर्र   रक धा   तर्र रक   धा X

कड़ा ऽन   धा कड़ा   ऽन धा   कड़ा ऽन   धा X

तिहाइयों के अतिरिक्त छोटे छोटे मोहरे भी बजाये जाते हैं। अधिकांश ताल बदलने के लिये रूक जाते हैं। तथा दूसरा ताल प्रारम्भ करते हैं।

'दिवारी—नृत्य'

दीवाली एक त्यौहार परक नृत्य है। इसको दीपावली के दूसरे दिन से एकादशी तक किया जाता है। इस नृत्य में केवल पुरूष वर्ग ही भाग लेता है। इस नृत्य में नर्तकों की संख्या सम होती है। नृत्य का विशेष परिधान होता है। इस नृत्य के नर्तक अत्यन्त कसा हुआ

जाँघिया पहनते हैं तथा ऊपर के वस्त्रों में दो उत्तरीय पहनी जाती है, जो पेट और छाती पर क्रास का निशान बनाती है। इन पर धागों की कढ़ाई के द्वारा फूल–पत्ती या चिड़िया तोते आदि बने रहते हैं। बैलों के गले जो घंटियाँ बांधी जाती हैं, उन घन्टियों को कमर में बाँधा जाता है। हाथों में लाठी लिये रहते हैं। यह नृत्य अत्यन्त मेहनत वाला नृत्य है। इसमें शारीरिक सौष्ठव का प्रदर्शन होता है। ऐसे पद चाप का चुनाव किया जाता है, जिसमें शरीर का कसाव अलग दिखायी पड़ता हैं। इस नृत्य में ढोल का वादन किया जाता है। ढोल को लकड़ी से बजाया जाता है। साथ में झींका, तांसा व अलगोझा बजाया जाता है। नृत्य करते समय लाठी भांजना तथा लाठी चलाने की कला का प्रदर्शन किया जाता है। साथ ही लाठी से बचने का भी उत्कृष्ट प्रदर्शन होता है। नृत्य के दूसरे भाग में हाथों में छोटी–2 लकड़ी लेकर एक दूसरे के साथ लड़ाते हुये नृत्य और पद चाप का प्रदर्शन किया जाता है। नृत्य की इस विधा को कहीं 2 'पाई –डन्डा' भी कहते हैं। इस नृत्य में ताल कहरवा के लय साम्य होते हैं। जिसमें दादरा ताल का भी आभास होता है। इस नृत्य में दोहे का गायन होता है। जो ताल रहित होता हैं इसके बाद नर्तक ऊँची कूद का प्रदर्शन करते हैं। ढोल पर 'तक तक तक तक की लड़ी बजा कर सीधा ठेके पर आ जाते हैं।

1	2	3	4	5	6	7	8
धिंऽता	ड़ाधिन	धिंऽता	ड़ाधिन	धिंऽता	ड़ाधिन	धिंऽता	ड़ाधिन
धेतधा	गितधा	तितधा	गितधा	धेतधा	गितधा	तिताा	गितधा
धातिऽधि	नकधिन	तातिऽति	नकतिन	धातिऽति	नकधिन	तातिऽति	नकबिन
कत्त	कता	कत्त	कता	कऽ	ऽत	कत्त	कता
कत्त	कता	कत्त	कता	कऽऽत	ऽऽतऽ	कत्त	कता

कहरवे का उपर्युक्त प्रकार ही दीबारी नृत्य का मुख्य प्रकार है। अधिकांश इसी

प्रकार का वादन होता है। लोक नृत्य दीवारी के नर्तकों एवं वादकों से यह पूँछने पर कि वह इस नृत्य के ठेके में क्या बोल बजाते हैं। बड़ी सहजता के साथ उन्होनें बताया कि इस नृत्य में–

डिग्ग डिगा डिग्ग डिगा । डिग ईके डिग डिगा

ये बोल बनेगा। ढोल को लकड़ी की सहायता से बजाया जाता है। नृत्य के अन्तिम चरण में लय बढ़ जाती है। जिसमें हाथों को छोटी–2 लकड़ियों की सहायता से 'गरवा' नृत्य जैसा ही नृत्य किया जाता है। विभिन्न प्रकार के पिरामिड बना–2 कर नृत्य किया जाता है।

'सैरा–नृत्य'

'सैरा–नृत्य' भी बुन्देलखण्ड के प्रमुख नृत्यों में है। यह नृत्य अत्यधिक लोकप्रिय है तथा अत्यन्त उत्साह के साथ किया जाता है। यह सामयिक लोक नृत्य है। बरसात की रिमझिम फुहारों के बीच यह नृत्य आषाढ़ श्रावण के महीनों में किया जाता है। इस नृत्य में पुरूष तथा स्त्रियाँ सम सेंख्या में भाग लेते हैं। आषाढ़ तथा श्रावण मास बुन्देलखण्ड के कृषकों के लिये आराम के दिन होते हैं। अर्थात कृषि सम्बन्धी कार्य की जटिलता इन दिनों नहीं होती है। अच्छी बरसात होने से कृषक वर्ग का मन मयूर नाच उठता है। बुन्देलखण्ड में तालाब अधिक संख्या में हैं। जो बारिश के पानी से भर जाते हैं। उनमें धान की रोपाई की जाती है। ऐसे हर्ष एवं आहलाद के क्षणों में स्त्री एवं पुरूष 'सैरा नृत्य' करते हैं। इस नृत्य में एक स्त्री एवं एक पुरूष की जोड़ी होती है। जितनी भी जोड़ियाँ भाग लेना चाहे वह नृत्य में सम्मिलित हो सकती है 'सैरा–नृत्य' के साथ ढोलक या पखावज, नगड़िया, झींका मंजीरा, अलगोजा, तुरही आदि का वादन किया जाता है। नर्तक अपने हाथ में मूसल एवं मोर पंखों का गट्ठा लिये रहते हैं। नृत्य का प्रारम्भ पहले होता है। बाद में गीत को प्रारम्भ किया जाता है।

साहुन सुहाने रे SSSSS
साहुन सुहाने अरे मुरली बजे हो, भादौं सुहानी मोर
तिरिया सुहावन अरे जबहीं लगे, अरे खेलें पौर के दौर

असढ़ा तो उतरे रे SSSSS
असढ़ा तो उतरे अरे सहुना लगे हो
बीरन लिबउआ अरे आए हैं, मैनें चुनरी धरी है रंगाय

बैठी तो रइयो रे SSSSS
बैठी तो रइयो अरे गोरी सतखंड हो SSS, खइयो डबों के पान
जब हम आवैं अरे रण जूझ कें, तोरी मोतिन भराए हों मांग

हरवारें जावैं रे SSSSS
चरवारे जावै, अरे गोरी सतखंड हो SSS अरे पानों पै परी री तुसार
तोरे अकेले अरे जियरा आवै ना, कि मोहे सूनो लगे सन्सार

काए को गई तीं रे SSSSS
काए को गई तीं, अरे बेला बाग में हो SSS काए को तेरे टोरे अनार
काए को टोरी अरे चम्पा कली, तुमै डस लेबे कारे नाग

'पाई' (सैरा के बाद गाई जाती है)

"सांवरे पिया तोरे बोलो में मरी जाऊं रे
जब नरबदा पैरन हो आई –2
लहंगा भीजे हिलोरों में मरी जाऊं रे
X X X
जब नरबदा गलुअन हों आई –2
घुंघटा भीजे हिलोरों में मरी जाऊं रे

साभार : डॉ0 वीणा श्रीवास्तव

नृत्य विलम्बित लय में प्रारम्भ किया जाता है। इसमें ताल कहरवा का वजन दिखाई देता है। जो 'लय–साम्य' दिखता है वह कहरवा ताल को ही दर्शाता है। दूसरे शब्दों में

कहा जाय तो कहरवा ताल का ही प्रयोग होता है। जिनके प्रकार उनको एक अलग स्वरूप प्रदान करते हैं।

धाऽ	ऽता	ऽऽ	कड़ान	|	धीधी	नाना	धीधी	नाना
धाऽ	ऽता	ऽऽ	कड़ान	|	धित	कधि	तक,	धिन
धाऽ	ऽता	ऽऽ	कड़ान	|	धन	नध	नन	धन
धाऽ	ऽता	ऽऽ	कड़ान	|	धाता	धाता	धाता	धाता

तिहाई

धिं	ऽता	ऽक	धिंऽ	|	धिं	धिं	ता	ता

इस प्रकार के लयखण्डों में प्रारम्भ की चार मात्राओं में ढोलक या पखावज के बोलों की प्रधानता रहती है। खाली विभाग की चार मात्राओं में नगड़िया की प्रधानता रहती है। कभी कभी ढोलक केवल सम दिखाने का काम करती है। बाकी सात मात्राओं में नगड़िया ही बजती रहती है। और कभी कभी ढोलक नगड़िया दोनों ही बन्द रहती हैं। केवल झींका ही बजाया जाता है। अर्थात सभी वादकों को एक–एक कर मौका दिया जाता है। इन सभी में कहरवा के 'लय–साम्य' रहते हैं। प्रत्येक अन्तरे में लय बढ़ जाती है, जो अन्त तक अपने चरम को प्राप्त होती है। इसी द्रुत लय में गीत तथा नृत्य दोनों का स्वरूप बदल जाता है, जिसे "पाई" कहा जाता है। नृत्य के इस भाग में मूसल तथा मोर पंखों के साथ पद चाप (एक्शन) होते हैं। कभी कभी नृत्य के इस भाग में पाई के गीतानुसार दादरा ताल बजती है। पाई दादरा ताल से प्रारम्भ होकर अति द्रुत लय में समाप्त होती है। 'पाई में' ताल के बोल जो सैरा गीत के साथ बजे हैं, वही बजेगें। बस लय द्रुत हो जाएगी।

'लमटेरा'

"बंसी बजाई नइयाँ बा दिन की" इस प्रकार के गायन को बुन्देलखण्ड में लमटेरा

के नाम से जाता है। इसका गायन पुरूषों द्वारा किया जाता है। संगतकार के रूप में पुरूष ही भाग लेते हैं। इसमें ढोलक या पखावज, झींका, मंजीरा तथा लोटे का प्रयोग होता है। इन वाद्यों में झींका, मंजीरा तथा लोटे की प्रधानता रहती है। इसको ताल कहरवा में ही गाया जाता है। ठेके की पहिचान लोक गायक या वादक इस प्रकार करते हैं।

1	2	3	4	5	6	7	8
झिं	का	छिं	का	छिं	का	झिं	का

जिसका शास्त्रीय स्वरूप इस प्रकार का होता है।

1	2	3	4	5	6	7	8
धाती	धाती	ऽता	धाती	धाती	धाती	ऽता	धाती
X				0			

ठेके का यही स्वरूप चलता है। अन्त में लय बढ़ा दी जाती है।

'रैया'

रैया बुन्देलखण्ड के लोकगीत गायन की एक विधा है। जिसे केवल स्त्रियाँ ही गाती हैं। इस गायन में संगतकार भी स्त्रियाँ रहती है। गायन के साथ ढोलक एंव मंजीरे का प्रयोग होता है।

"रतन कुंआरी मोखे सांकरे अरे रैया अलबेली भरे पानी हां"

इस गायन में दादरा का लय बाँट दिखता है। पूरे गीत में ठेके का प्रकार इस प्रकार होता है।

1	2	3	4	5	6	7	8
धा	ऽ	क	त	त	क	धि	न

'बिलवारी'

बिलवारी गायन भी स्त्रियों के द्वारा किया जाता है। इसमें स्त्रियां ढोलक और

मंजीरा आदि के साथ भाग लेती है। इस गायन में कहरवा ताल का प्रयोग होता है।

"मोसे देहरी चढ़ी ना जाय"

इस प्रकार के गायन के साथ कहरवा ताल का ठेका कुछ इस प्रकार बजता है।

1	2	3	4	5	6	7	8
धा	S	क	त	त	क	धि	न
X				0			

'कजरी'

कजरी गायन भी स्त्रियों द्वारा होता है। स्त्रियाँ स्वयं ढोलक मंजीरे पर कजरी का गायन करती है।

"कि हरे रामा श्याम बने लिलहारी ओढ़ लई सारी रे हारी "

इस गायन में कहरवा ताल बजाया जाता है। जिसका "प्रकार" इस प्रकार होता है।

1	2	3	4	5	6	7	8
धा	S	क	त्त	त	क	धि	न
X				0			

यह गायन मध्य लय में.प्रारम्भ होता है। पूरे गायन में ठेके का यही प्रकार बजता रहता है। लय आद्योपान्त एक सी ही रहती है। ना ही ठेके का प्रकार बदलता है। और ना ही तिहाई या मुखड़े मोहरे का प्रयोग होता है।

'सखयाऊ फाग'

बुन्देलखण्ड में फाग गायन स्त्री, एवं पुरूष दोनों ही वर्गो में होता है। किन्तु दोनों की गायन शैली अलग है। तथा गीत के बोलों में भी अन्तर होता है। सखयाऊ फाग पुरूष वर्ग ही गाता है। इस गायन में ढोलक, मंजीरा, झींका, नगड़िया एवं लोटा का प्रयोग होता है। प्रारम्भ

में साखी बोली जाती है, जो ताल रहित होती है। उसके बाद फाग के बोल प्रारम्भ करते हैं। यह विलम्बित लय में प्रारम्भ की जाती है। इस गायन में दादरा ताल के प्रकार बजाये जाते हैं।

"चार खूटें को चौतंरा लम्बे भरे बाजार

सुगर–सुगर सौदा करें रे सो मूरख फिर फिर जाएं अतर के फोहा धरे दोई बालमा"

इसके साथ विलम्बित लय ताल दादरा बजाया जाता है।

1	2	3	4	5	6
धा	धिं	ना	ता	तिं	ना
X			0		

ढोलक के साथ नगड़िया के बोलों का मिश्रण रहता है। नगड़िया पर तड़ तड़ तड़ तड़ की लड़ी एक या दो आवर्तन बजाते हैं। और पुनः उसी ठेके पर आ जाते हैं। प्रत्येक अन्तरे के साथ लय बढ़ जाती है। बाद में कहरवा गीत गाते हैं।

"सीता को पता लगा दे मोरे भइया हाँ राम कहै लछमन सें"

'डिढ़खुरयाऊ फाग'

फाग की इस विद्या में भी पुरूष वर्ग भाग लेता है। इसमें भी ढोलक नगड़िया, झींका मंजीरा आदि बजाया जाता है। डिढ़खुरयाऊ फाग एवं सखयाऊ फाग के गीत तथा धुन अलग अलग होती है। प्रारम्भ में गीत अत्यन्त विलम्बित लय में होता है। जिसमें ताल दादरा का प्रयोग होता है।

1	2	3	4	5	6
धा	धिं	ना	ता	तिं	ना
X			0		

प्रत्येक अन्तरे के बाद लय बढ़ती जाती है। ढोलक के साथ नगड़िया के बोलों

का मिश्रण होता है। जो अन्त की दो मात्राओं में तड़ तड़ के रूप में सुनायी पड़ती है।

'ख्याल'

गायन की इस विधा पर भी पुरूषों का एकाधिकार है। ख्याल गायन में भी ढोलक नगड़िया, झींका, मंजीरा आदि का प्रयोग होता है। आरम्भ अति विलम्बित लय में किया जाता हैं जिसमें ढोलक पर केवल सम दिखाया जाता है। केवल धा या ता बजाते हैं।

''अरे हिल मिल फरिया फाग की,

बालापन की दोस्ती हम सें ना छोड़ी जाय''

धीरे धीरे लय बढ़ती जाती है। जिसमें ताल कहरवा बजाया जाता है। जो कुछ इस प्रकार होता है।

धातिं धातिं SS ताधिं | धातिं धातिं SS ताधि

स्थाई और अन्तरे के बीच के अन्तराल में लय बढ़ जाती हैं। तथा तिहाई लगा कर पुनः उसी ठेके पर आ जाते हैं।

'ख्याल' का उपर्युक्त प्रकार ठेठ गांव में देखने को मिला। कई 'ख्याल गायक' 'चंग वाद्य' को बजाकर 'ख्याल' गायन करते हैं ये ख्याल में किसी न किसी गाथा का गायन करते हैं।

'स्वांग'

स्वांग हास्य रस की एक विधा हैं। जिसमें गीत के अनुरूप ही नर्तक उस कलाकार का वेश धारण कर उसी के हाव भाव एंव नृत्य के पदचापों का प्रदर्शन करता है। इसमें गीत ताल कहरवा या दादरा में ही अधिकतर होते हैं। यह विधा भी पुरूष वर्ग ही करता है। इसमें महिलायें भाग नहीं लेती हैं।

''धरियो नै दो दो गगरिया बेला तुम्हें लग जैहे नजरिया''

इस गीत में ताल दादरा बजाया जाता है। ढोलक के साथ मंजीरा, नगड़िया,

झींका आदि बजाया जाता है। इस गीत में मध्य लय का ही प्रयोग होता है। गीत मध्य लय में प्रारम्भ होता है। अन्तिम चरण में लय बढ़ा कर समाप्त कर दिया जाता है।

1	2	3	4	5	6
धा	धिं	ना	ता	धिं	ना

'भगतें'

बुन्देलखण्डी लोकगीत की अनेक विधायें हैं। उनमें कुछ विधाएं प्रमुख रूप से पूजा अर्चना से सम्बधित होती हैं। देवी गीत इन्ही श्रेणी में आते हैं। देवी गीत के अन्तर्गत अनेक प्रकार के गीत गाये जाते हैं। जिनमें 'भगत' का प्रमुख स्थान है। भगत पुरूषों द्वारा गायी जाने वाली विधा हैं। इस प्रकार के गीतों में ढोलक, या पखावज, झींका, नगड़िया, लोटा, मंजीरा करताल आदि बजाये जाते हैं।

"अरे जगतारिन आई बेला बाग में हो मां"

गीत की स्थाई विलम्बित लय में प्रारम्भ होती है। इसके साथ केवल घन वाद्य ही बजाये जाते हैं। चूँकि लय अति विलम्बित होती है। अतः केवल घन वाद्यों का प्रयोग सुन्दर प्रतीत होता है। गीत की स्थाई को कई बार दुहराते हैं। इसके साथ झींका तथा मंजीरा बजाया जाता है। उसमें कभी कभी सम छोड़ कर कभी सम से, जो इस प्रकार होता है।

1	2	3	4	5	6	7	8
छक	S	S	छक	छक	S	S	छक
S	छक	S	छक	S	छक	S	छक
S	S	छक	छक	S	S	छक	छक
S	छक	छक	छक	S	छक	छक	छक

स्थाई को गाते –2 थोड़ी लय बढ़ जाती है। जिसके साथ ही नगड़िया बजाना

शुरू किया जाता है। नगड़िया तिहाई बजाने के साथ प्रारम्भ होती है।

धिं	ऽता	ऽक्र	धिन	धिं	धिं	ता	ता

तिहाई के सम साथ नगड़िया धीरे–2 प्रारम्भ करते हैं।

ऽ	ऽ	तड़	तड़	ऽ	ऽ	तड़	तड़

बजाते–2 इसी बोल की लड़ी बॉध लेते हैं। जो कम से कम 4 या 8 आवर्तन तक भी हो सकती है, तथा तिहाई के साथ समाप्त करते हैं। तिहाई इस प्रकार की होती है।

धा	क्ड़ान	ऽऽ	धा	कड़ान	ऽऽ	धा	क्ड़ान	धा X

प्रत्येक अन्तरे के साथ लय बढ़ती जाती है। मध्य लय में आने पर अवनद्य वाद्य अर्थात ढोलक या पखावज बजाया जाता है। किन्तु अत्यन्त क्षीण वादन होता है। क्योंकि इसमें झींका, मंजीरा, नगड़िया, प्रमुख रूप से बजाये जाते हैं। ढोलक या पखावज गौड़ रहते हैं। इसमें कहरवा ताल बजाया जाता है। जिसके प्रकार का स्वरूप कुछ इस प्रकार होता है।

धाऽ	कधि	नक	धिन	ताऽ	कधि	नक	धिन
धिं	क्र	धा	धिन	ऽ	ऽ	कत	ऽ
धिं	ऽतं	नक	धिन	धिं	ऽत	नक	धिन

नगड़िया की प्रधानता रहने के कारण प्रत्येक अन्तरे के बाद तड़ तड़ बोल लड़ी बजाई जाती है। गीत के अन्तिम भाग में लय बढ़ जाती है। तिहाई के साथ गीत की समाप्ति होती है।

धा	तिं	ऽ	धा	तिं	ऽ	धा	तिं

'बीरोठ'

बीरोठ का देवी गीतों में प्रमुख स्थान है। देवी गीतों के गाने के क्रम में बीरोठ अन्त में गाया जाता है। इसके बाद कोई भी देवी गीत नहीं गाये जाते हैं। देवी के दरबार या

नवरात्र आदि पर तांत्रिक, मांत्रिक, गुनिया ओझा आदि की उपस्थित में यह बीरोठ गाई जाती है। क्योंकि इसका गायन शक्ति को मनुष्य के ऊपर बुलाने के लिये किया जाता है। इसी लिये बीरोठ की लय अति विलम्बित से अति द्रुत तक जाती है। इसके सहारे जिस व्यक्ति पर शक्ति आती है वह झूमने लगता है और लय की चरम सीमा पर पहुँचने पर वह शक्ति आ जाती है। और शक्ति प्राप्त हुआ मनुष्य फरियादिओं की समस्यायें सुलझाने लगता है। बीरोठ गायन में नगड़िया, तांसा, झींका, मंजीरा प्रमुख रूप से होता है। मुख्य रूप में नगड़िया ही बजायी जाती हैं। ढोलक या पखावज वाद्य का प्रयोग अत्यन्त अल्प रूप में होता है। धा, या ता, धिं, या तिं के बोल ढोलक पर बजते हैं। या एक या दो आवर्तन में ही ढोलक सुनायी पड़ती है। देवी गीत के इस गायन को पुरूष वर्ग ही गाता है। स्त्रियॉ बीरोठ नहीं गाती हैं। प्रारम्भ अति विलम्बित लय में होता है। इस समय केवल झींका या तांसा ही बजता है। गीत की पहली पंक्ति को कई बार दुहराया जाता है।

"देव देव अटक नदी बैरिन भई"

छक	S	S	छक	छक	S	S	छक
S	छक	S	छक	S	छक	S	छक
S	S	छक	छक	S	S	छक	छक
S	S	S	छक	S	S	S	छक

इस प्रकार गीत का प्रारम्भ होता है। पहली पंक्ति के बाद दूसरी पंक्ति में थोड़ी लय बढ़ जाती है। और उसी के साथ नगड़िया बजना प्रारम्भ हो जाती है।

"हे कैसें के उतरें पार बेहनार सिंह अटक नदी बैरिन भई"

S	S	S	तड़	S	S	S	तड़
S	S	तड़	तड़	S	S	तड़	तड़
S	तड़	तड़	तड़	S	तड़	तड़	तड़

इसके बाद नगड़िया पर तड़ तड़ तड़ तड़ बोल की लड़ी बाँध दी जाती है। जो दो या 4 आवर्तन तक बजाते हैं। और तिहाई लगा कर ठेका बजाने लगते हैं।

तड़ तड़ कड़ान तड़ | तड़ कड़ान तड़ तड़ | तिहाई

प्रत्येक अन्तरे के बाद लय बढ़ती जाती है। लय सदैव अन्तरे की दूसरी पंक्ति से बढ़ती है। जिसमें नगड़िया के साथ अल्प रूप में ढोलक शामिल रहती है।

धा	ऽ	तर्र	रक	ता	ऽ	तर्र	रक
तर्र	रक	तक	धिन	तर्र	रक	तक	धिन
धा	तर्र	रक	धिन	ता	तर्र	रक	धिन
तर्र	रक	तर्र	रक	तर्र	रक	तर्र	रक
धा	तिं	नक	धिन	ता	धिं	नक	धिन
धा	ऽति	नक	धिन	ता	ऽति	नक	धिन
तड़तड़	धिं	तड़तड़	धिं	तड़तड़	धिं	तड़तड़	धिं

द्रुत लय होने पर नगड़िया, तांसा ही अधिक सुनाई पड़ता है। चरम सीमा पर पहुँच कर तिहाई लगाकर गीत की समप्ति होती है।

दुगुन में – कड़ाऽन धाकड़ाऽ ऽनधा कड़ाऽन | धा
X

'गोटें'

बुन्देलखण्ड में गोटें लोकगाथा के रूप में गाई जाती हैं। इसमें कारसदेव का प्रसंग रहता है। चौथ के दिन गांव के कारसदेव के चबूतरे पर ही इसका गायन होता है। गोटों के साथ 'ढाँक' बजाई जाती है। ढांक में दाब–दांस के लिए एक डोरी लगाई जाती है, जिसे पैरों में फंसाकर लय के साथ खींचा व छोड़ा जाता है। बाएं मुख पर लकड़ी से प्रहार करने के साथ ही डोरी को पैरों से दबाकर खींच दिया जाता है। जिससे 'डिम' बोल थोड़ा खिंच जाता है और दाब–दांस के साथ सुनाई पड़ता है।

1	2	3	4	5	6	7	8
डिम	टक	डिम	टक	डिम	टक	डिम	टक
"	"	"	"	"	"	"	"

आल्हा वीर रस का गायन है। बुन्देलखण्ड में 'आल्हा' बहुत प्रसिद्ध है। क्योंकि आल्ह खंड के सभी नायक और उनसे सम्बद्ध पात्र बुन्देलखण्ड की भौगोलिक सीमा के अन्दर के निवासी रहे हैं। बावनगढ़ की लड़ाई का ब्योरा 'आल्हा गायन' द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। सभी लड़ाइयों की कहानी आल्हा के माध्यम से लोकगाथा के रूप में आज भी चौमासें भर चौपालों में गाई जाती हैं। आल्ह–छंद के गायन में बदले के प्रसंग, हरण का प्रसंग ऐसे ही न जाने कितने प्रसंग है, जिन्हें गाते–गाते तथा सुनने मात्र से ही भुजाएं फड़कने लगती हैं।

आल्हा गायन के साथ ढोलक तथा मंजीरा बजाया जाता है। मंजीरा अनवरत बजता रहता है। जिससे लय बराबर दिखती रहती है जबकि ढोलक बीच–2 में रूकती चलती है। आल्हा गाते समय अंग–2 फड़कने लगते हैं। गायक जोश में बीच–2 में म्यान से तलवार भी निकाल लेता है।

यहाँ पर मछलाहरण का प्रसंग तथा उसके साथ बजाई गई बजौटी का वर्णन किया जा रहा है। सबसे पहले देवी–देवताओं का सुमिरन (स्मरण) कर प्रसंग पर आते है।

"मैं पहले सुमिरों परमेसुर को, जिनने पिंडी रच दई हमार
दूजे सुमिरों मैं धरती मात को, जहाँ वहाँ रूप धरे दोऊ पार
तीजे सुमिरो माता अपनी, कुंछा मा नाय रही नौ मास
चौथा सुमिरों मैं गुरू अपने कां, जो साथा देत दुधुअन क्यार"

मंजीरे की बजौटी :–

किट कों किट कों किट कों किट कों किट कों किट कों किट कों किट कों

किटकिट किटकिट किटकिट किटकिट किटकिट किटकिट किटकिट किटकिट

ढोलक की बजौटी :–

ता किट	ता किट	ता किट	ता किट	ता किट	ता किट	ता किट	ता किट	
ता किट	तकतिर	किटतक	तिरकिट	ताकिट	तकतिर	किटतक	तिरकिट	
ताकिट	तकतिर	किटतक	तिरकिट	ताकिट	तकतिर	किटतक	तिरकिट	
धातिर	किटतक	धा धा	धा तिर	किट तक	धा धा	धा तिर	किट तक |	धा X

मंजीरे की लय बराबर चलती रहती है। बीच में ढोलक पर क्ड़न धा बजा देते हैं।

'बजौटी'

धित्तधाऽ	ऽगधाऽ	तित्तधाऽ	ऽगधाऽ |	धित्तधाऽ	ऽगधाऽ	तित्तधाऽ	ऽगधाऽ
"	"	"	" |	ऽधा	तिरकिट	तकताऽ	तिरकिट
"	"	"	" |	"	"	ऽधा	तिरकिट (मुखड़ा)

बीच–बीच में बजौटी बदलती जाती है।

धागे	नाती	नक	धिन	धागे	नाती	नक	धिन
"	"	"	"	"	"	ऽधा	तिरकिट
धिंऽऽति	नकधिन	धिंऽऽति	नकधिन	धिंऽऽति	नकधिन	धिंऽऽति	नकधिन
"	"	"	"	"	"	"	"
"	"	"	"	ऽधा	तिरकिट	तकताऽ	तरकिट
धातिं	ऽति	नक	धिन	धातिं	ऽति	नक	धिन
"	"	"	"	"	"	"	"
धाती	नाड़ा	धाती	नाड़ा	धाती	नाड़ा	धाती	नाड़ा
"	"	"	"	"	"	"	"
धित्त	ऽड़ता	तित्त	ऽड़ता	धित्त	ऽड़ता	तित्त	ऽड़ता
"	"	"	"	"	"	ऽता	तिरकिट

उपर्युक्त आल्हा गायन में समाप्ति दादरा की लय में की गई है।

धिंऽ	ताऽ	ताऽ	तिंऽ	धिंना	धिन
"	"	"	"	"	"

'स्त्रियों के गीत'

बुन्देलखण्ड के लोक संगीत में संस्कार परक लोकगीत प्रायः स्त्रियों द्वारा ही गाये जाते हैं। जिनमें कुछ लोकगीत बिना ढोलक के ही गाये जाते हैं तथा बाकी ढोलक मंजीरें, झींका आदि के साथ गाये जाते हैं। इन लोक गीतों में अधिकतर कहरवा एवं दादरा ताल का प्रयोग होता है। जिनमें कहरवा ताल के बोल इस तरह के होते हैं।

1	2	3	4	5	6	7	8
क	त	क	त	धि	न	धि	न
X				0			
धा	ऽ	क	त	ध	ऽ	धा	धा
ऽ	क	ति	न	ऽ	क	धि	न

'दादरा ताल के बोल'

1	2	3	4	5	6
धा	क	ति	नक	धी	ना
X			0		

बुन्देलखण्ड के लोकगीतों एवं लोकनृत्यगीतों के साथ बजने वाले ताल या लय वाद्यों के अतिरिक्त स्वर–वाद्यों का भी उतना ही महत्व है।

गीतों का आधार–स्वर लोकजन भले ही कभी चक्की की घरर–घरर से ले लेता है और कभी धोबी के कपड़े धोने की आवाज छपाक–छपाक भी इनके गीतों के आधार

–स्वर हो जाते हैं।

राई नृत्य में गीत के बीच–बीच में अलगोजा द्वारा भराव करते हैं। अलगोजा में वे गीत की धुन को ही दोहराते हैं।

इसी प्रकार बरेदी नृत्य में पद–संचालन के साथ एक विशेष प्रकार की धुन बराबर नृत्य के साथ बांसुरी या अलगोजा पर बजती रहती है।

ढिमरियाई एवं कांडरा–नृत्य में तो नृत्य का प्रारम्भ ही केंकड़िया वाद्य से होता है। केंकड़िया पर आधार–स्वर लेकर–आलाप प्रारम्भ करते हैं, फिर साखी बोलते हैं। केंकड़िया प्रारम्भ से अन्त तक बजती रहती है। केंकड़िया पर गीत की धुन ही बजाते हैं।

सैरा–नृत्य में अलगोजा एवं तुरही का प्रयोग करते हैं। प्रारम्भ में ही तुरही में 'तु–तु–तु–तु' एक उत्साह, प्रसन्नता का स्वर व्यक्त करते हैं, बाद में सैरा–गीत के साथ–साथ अलगोजा उसी धुन में बजता रहता है।

रमतूला का प्रयोग मांगलिक अवसर पर करते हैं, उसमें भी प्रसन्नता से पूर्ण स्वरों का उद्घोष होता है।

षष्टम अध्याय

'अवनद्ध लोक–वाद्यों की वादन शैली (बजौटी) एवं शास्त्रीय ताल–वाद्यों की वादन शैली का तुलनात्मक अध्ययन'

सामवेद भारतीय संगीत की परम्परा का प्रथम महान ग्रंथ है। प्राचीन काल से ही लयवाद्यों एवं लयसाम्यों के प्रयोग एवं महत्व को संगीत में प्रतिष्ठा प्राप्त है। सामगान के माध्यम से ऋचाओं का पाठ करने के लिये दो ग्रंथ थें। जिनमे से प्रथम का नाम छन्द और दूसरे का नाम उत्तरा था। सामवेद में लयगति हेतु छन्दों का महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता है।

''वैदिक संगीत के साथ–2 लौकिक संगीत के रूप में गाथा, नाराशंसी आदि भी समाज में प्रचलित थे। गायन, वादन तथा नृत्य के साथ मात्रा गिनकर हाथ से ताल देने की प्रथा थी।'' [1]

विद्वानों ने ठीक ही कहा है कि अनिबद्ध या ताल विहीन संगीत आरण्यक संगीत है तथा निबद्ध या ताल युक्त संगीत सामाजिक संगीत है। बिना ताल के केवल स्वरों का आनन्द हृदय में उल्लास व उत्तेजना का सृजन प्रदान करने में असमर्थ होता है। संगीत में छन्द और ताल ही स्वरों को गति प्रदान करते हैं। ताल संगीत को एक निश्चित नियम या समय में बांधता है, तथा विभिन्न सौन्दर्यपूर्ण चलन शैलियों को विकसित करता है, संगीत को अनुशासित कर उसको सुगठित रूप, स्थायित्व एवं चमत्कार पूर्ण ताल ही बनाता है। तालों में गति भेद उत्पन्न कर रस–निष्पत्ति सम्भव हो पाती है। भिन्न–2 रसों के लिए भिन्न तालों की विभिन्न गतियों का बहुत महत्व है। अतः वैदिक काल के ग्रंथों (सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद) में दृत, लघु, गुरू आदि मात्रिक (कालों) का महत्वपूर्ण स्थान था।

वैदिक काल के बाद ईसा पूर्व के ग्रंथों रामायाण महाभारत, पुराण आदि में भी अवनद्ध वाद्यों का स्पष्ट उल्लेख है, किन्तु ताल पद्धति का उल्लेख नहीं है।

ईसा के बाद भरत मुनि का 'नाट्य शास्त्र' संगीत के क्षेत्र का प्रामाणिक ग्रंथ है। इसके 28 वें अध्याय में भरत ने वाद्यों का वर्गीकरण, 31 वें अध्याय में ताल–विधान का विश्लेषण

(1) भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, : डॉ0 अरूण कुमार सेन –पृ08

तथा 33वें अध्याय में अंग–प्रत्यंग व अवनद्ध वाद्यों का उल्लेख कर अंग वाद्यों को संगीत के लिए उपयोगी बताया है।

''शारंगदेव' का 'संगीत–रत्नाकर' ग्रंथ नाट्य शास्त्र के समान ही 'मध्ययुग' का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है। इस ग्रंथ में उन्होंने भरत के कुछ मतों का (मार्गी तालों) वर्णन तो किया है– पर साथ ही लोकरूचि को ध्यान में रखकर देशी संगीत, देशी ताल एवं अवनद्ध वाद्यों का विस्तृत विवेचन किया है। संगीत रत्नाकर के कुल 6 अध्याय हैं, जिनमें पांचवा अध्याय तालाध्याय तथा छटा अध्याय वाद्याघ्याय का है।

अवनद्ध वाद्यों (लोक एवं शास्त्रीय) का लयात्मक विश्लेषण

लय निर्वाह की सबसे प्राचीन प्रणाली हाथ से ताल देने की रही है। भारत ही नहीं लगभग सभी क्षेत्रों में यही क्रम रहा है। अन्य देशों के संगीत में केवल लय–साम्यों की विविधता ही दिखाई देती है। परन्तु भारतवर्ष में लयात्मकता का ताल–शास्त्र के रूप में जो एक व्यवस्थित, वैज्ञानिक विकास एवं गणितीय आधार दिखाई देता है वह अन्य कहीं नहीं।

यहॉ तक कि ये लय–वैषम्य देशीय लय–स्वरूपों में भी दिखाई देता है।

'लय ' शब्द 'ली' धातु से बना है। 'ली' धातु का मुख्य अर्थ 'लीन होना' तद्वरूप या तादात्म्य प्राप्त करना है। अमर कोष में संगीत संबंधित लय के संदर्भ में लिखा है–

''तालः कालक्रियामानं लयः साम्यमथास्त्रियाम्''

अर्थात क्रिया द्वारा मापा गया काल (ताल) साम्य होने पर लय होगी। भारतीय संगीत के लगभग सभी ग्रंथों में लय़ की व्याख्या सर्वत्र समान है।

''क्रियानंतरं विश्रान्तिर्लयः , स त्रिविधा स्मृतः।

दृतो, मध्यो विलम्बश्च, दृतः शीघ्रतमो मतः।।'' (1)

नाट्य शास्त्र में लय को परिभाषित करते हुए भरत मुनि ने लिखा है– कि दो

---

(1) संगीत रत्नाकर ' शारंगदेव, अ0 सं0 ताला0 पृ0 –20

कलाओं के मध्य का समय (जिस आधार पर मात्रा का निर्माण होता है) लय होगी।

लय को गति के अनुसार अक्षरगत, गीतगत, छंदोगत, पदगत, वाक्यगत, शब्दगत, वाद्यगत, स्वरगत आदि दृष्टियों से देखा जा सकता है। तालगत व छन्दगत ये दोनों लय संगीत से संबंधित है, वैदिक संगीत में छंदोगत लय का ही प्रयोग किया जाता था। दो क्रियाओं के मध्य ये कालमान कम,मध्यम और दीर्घ हो सकता है। इस कालमान के आधार पर ही तीन प्रकार की लय मानी गई है। दृत, मध्य और विलम्बित। लय का सम या विषम रूप ही लयकारी कहलाता है। लय और लयकारी में विशेष अंतर नहीं है फिर भी ये दोनों अलग–2 है लय मात्रा के अन्तर द्वारा निश्चित की जाती है जबकि लयकारी में एक मात्रा काल में वर्णो या उच्चारणों का कालमान मात्रा के आधार पर नापा जाता है। लय की यही भिन्न–2 क्रियाएं होती हैं।

लय और लय से संबंधित तत्वों का संगीत से घनिष्ठ संबंध है। कोई भी गीत स्वर एवं लयबद्ध होने पर ही निबद्ध होकर सांगीतिक कहलाता है। संगीत को ताल द्वारा लयबद्ध किया जाता है। अर्थात– काल और लयतत्व को मात्रा और ताल प्रमाण से संगीत में परिभाषित कर सकते हैं। गीत प्रकारों के साथ अलग–2 या समान मात्रिक तालों का अलग–2 लयों में प्रयोग किया जाता है। गीत प्रकारों के रस–भाव निष्पत्ति में लय का बहुत महत्व होता है। लय द्वारा संगीत में विभिन्न रसभावपूर्ण चलन शैलियों का निर्माण होता है। लय में गतिभेद उत्पन्न कर अलग–2 भाव उत्पन्न किये जा सकते हैं। लय, ताल के माध्यम से संगीत को स्थाई, उपयोगी एवं मनोरंजन व रसभाव पूर्ण बनाती है। ताल एवं लय द्वारा वादक की कला मौलिक तत्वों से समन्वित होकर कई गुना अधिक समृद्ध एवं प्रभावपूर्ण होती है।

लय एवं गतिभेद द्वारा दिखाई गई लयकारी गीत के शब्दों के रस–भाव को स्पष्ट कर विकसित करती है। तालात्मक एवं लयात्मक मर्यादा ही गति शैलियों को प्रभावोत्पादक एवं चमत्कारिक बनाती है।

लोक संगीत की लयात्मकता को शास्त्रीय लयात्मकता के आधार पर नहीं कसा जा सकता है। इसमें तालों द्वारा नहीं बल्कि सम या विषम मात्रिक खण्डों द्वारा गीतों को लय

में स्थापित किया जाता है। लोक कलाकार 1–2, 2–2, 3–3, 4–4, या 2–3, 3–4 आदि लय स्वरूपों द्वारा गीत की लय को अभिव्यक्त करते हैं। लोक संगीत में स्वर एवं ताल की नहीं अपितु शब्द उच्चारण, भाव, रस तथा लयात्मकता की प्रधानता होती है। लय ही संगीत में ताल रूप में निरूपित होकर संगीत को उपयोगी, रसभावपूर्ण एवं मनोरंजक बनाती है। लय द्वारा ही संगीत को समयबद्ध एवं संयमित किया जा सकता है। अखण्ड समय तक बिना व्यतिक्रम के श्रेष्ठ संगीत का आस्वादन कठिन होता है। निश्चित समय खण्डों की आवृत्ति में विभोर होकर अनिवर्चनीय आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

समय के निश्चित बन्धन के अतिरिक्त लय एवं लयकारियों व तालों से चमत्कार पूर्ण एवं सौन्दर्यपूर्ण चलन शैलियों का विकास किया जा सकता है। जिस प्रकार साहित्य में अभिधा, लक्षणा व व्यंजना आदि शब्द शक्तियां हैं उसी प्रकार संगीत में भी प्रतिभाावान कलाकार मौलिक तत्वों से विभिन्न प्रकार की चलन शैलियों का सृजन एवं विकास करते रहते हैं।, लोक कलाकार सावन गीत में झूले के दोलन में लयात्मकता दिखाकर तथा कुशल गायक 'ठुमक चलत रामचन्द्र बाजत पैजनिया' में रामचन्द्र ठुमकने को श्रंगारपूर्ण लयात्मक चलन शैलियों से सजीव कर देते हैं। गीत के शब्दों में स्वर–लय के चमत्कारिक प्रयास प्राणों का संचार कर देते हैं। कलाकारों के यही मौलिक प्रयोग भारतीय संगीत को विश्व श्रेष्ठ बनाते हैं।

हमारे भारतीय संगीत में कल्पना का विशेष महत्व है हम नियमों में बंधे रहकर भी स्वतंत्र है।

लय का संबंध गति से है और गति का संबंध काल से। काल को मापने के लिए क्रियाओं का प्रयोग करते हैं। दो क्रियाओं के मध्य के समय को मात्रा कहते हैं। इन्हीं क्रियाओं तथा मात्राओं द्वारा ही तालों की रचना की गई है। इन्हीं तालों से संगीत को निबद्ध करते हैं, जिससे वो रंजक होता है।

संगीत का लय या ताल रूपी संयम ही रस–निष्पत्ति का कारण होता है। विलम्बित गायन, वादन या नृत्य इतना अधिक विलम्बित न हो जाए कि नीरस लगने लगे और

तीव्र गति की चकाचौंध में इतना दृत भी न हो कि कलात्मकता नष्ट हो जाए। अतः यही नियंत्रण सन्तुलन, संयम ही आलाप, तान, बोलतान आदि विभिन्न क्रियाओं की अभिव्यक्ति में सम्भव है और आवश्यक भी।

लय एंव ताल से संगीत में स्थायित्व आता है और उसे हम संरक्षित भी कर सकते हैं। आज जो भी संगीत हमें उपलब्ध है वो स्वर, शब्द एवं ताल की निबद्ध श्रंखला के कारण ही।

साहित्य में जिस प्रकार छन्द की विभिन्नता द्वारा रस –प्रदर्शित होते हैं, उसी प्रकार संगीत में विभिन्न लयों का आधार लेकर हम भिन्न –2 तालों एवं रसों को प्रदर्शित कर सकते हैं। रस–निष्पति के लिए ताल गति को स्वरों की भी आवश्यकता होती है, परन्तु लोकगीतों में या लोकनृत्य में विभिन्न रसों का प्रदर्शन लोक कलाकार अपने ताल वाद्यों में लयगति की विभिन्नता के द्वारा ही सम्भव कर देते हैं।

संगीत के मूल्यांकन के लिए ताल एक प्रमुख साधन है। कहा जाता है कि एक बार 'बेसुरा' तो बर्दाश्त किया जा सकता है परन्तु 'बेताला' नहीं। लय–ताल की आशु प्रतिभा के कारण ही संगीतज्ञों की कोटि निश्चित की जाती है।

'लोक संगीत एवं शास्त्रीय संगीत में तालों का स्वरूप'

लोक संगीत की लयात्कमता को शास्त्रीय संगीत की लयात्मकता के द्वारा निरन्तर मापने के प्रयास तो होते रहे हैं, लेकिन उसका निर्वाह सम्भव नहीं हो पाया। क्योंकि प्रकृतिकः ये सम्भव भी नहीं हो सकता था। लघु तालों की निश्चित मात्रा का ही लोकगीतों में निर्वाह होता रहा है।

शारंगदेव ने भिन्न –2 देशों, प्रांतों व राज्यों के लोगों की रूचि व स्थिति के अनुसार ही प्रयुक्त संगीत को देशी संगीत कहा। वो संगीत जो सामान्यजन का मनोरंजन करता है वही देशी संगीत है। इस देशी संगीत के साथ बजने वाले ताल भी देशी ताल कहे जाते थे। "120 देशी तालों में से कोई भी ताल अथवा अन्य ताल भी लोगों के गीत प्रकारों के अनुसार

प्रयुक्त हो सकते थे। विभिन्न प्रांतों की भाषा, वर्णोंच्चा के कारण गीतों के निश्चित मात्रिक तालों के आवर्तन के खंडों और वजन में अन्तर संभव था। भाषा–भेद, वर्णोच्चार –भेद, गीत का वजन आदि के कारण भिन्न–2 प्रांतों में कई समान–मात्रिक भिन्न–2 ताल प्रयोग में आते रहे होंगें"(1)

ताल के ठेकों का उल्लेख न करते हुए कुछ निशिचित मात्रिक पाटाक्षरों का उल्लेख किया गया है। लोक संगीत के तालों में केवल ताली का ही प्रयोग किया गया जाता है। शास्त्रीय तालों के समान काल या खाली का उचित स्थान पर प्रयोग लोक कलाकारों के लिए सम्भव नहीं है। लोक संगीत में लय या लयात्मक का निर्वाह जिन वाद्यों से होता है उनमें शास्त्रीय नियमों का या क्लिष्ट बोलों का प्रयोग या पालन नहीं किया जाता है। लोक कलाकारों को शास्त्रीय बोलों का न ही ज्ञान है और न ही कल्पना। लेकिन फिर भी ये अपना वाद्य विविध ा लयों में बजाकर चमत्कृत कर देते हैं। लय के जो नैसर्गिक स्वरूप हैं उनको वो ग्राहय कर लेता है। लोक कलाकार 2/ 2/2/2/ , 3/3/3/3 या 4/4/4/4 सदृश्य सम लय स्वरूपों एवं 2/3/2/3 व 3/4/3/4 विषम लयस्वरूपों को भलिभांति पहचानता है। हाथ से ताली देकर या पदचाप द्वारा उन्हें सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करनें में समर्थ होता है। 3/2/2 में रचे हुये विभिन्न लोकगीतों से राजस्थान भरा पड़ा है। लोक संगीत उल्लास और जीवनी शक्ति का पर्याय है। राजस्थान की स्त्रियां नृत्य के समय अपने हस्त व पद के विभिन्न स्थानों में मंजीरों को बांध, लय पर पूर्ण नियंत्रण रखती हुई उन्हें गीत के साथ बजाती हैं।

लोक कलाकार लय–निर्वाह के लिए विभिन्न क्रिया– अंगों को वाद्य का रूप दे लेते हैं। उनके वाद्यों में ढप,ढपला, मंजीरा, झांझ, ढोल इत्यादि के साथ ही साथ लोटा, गड़ई, सूप, चलनी, छोटी–2 डण्डियां, डण्डा, डड़ला इत्यादि होता है। बुन्देलखण्ड के सैरा नृत्य के साथ डण्डा या डड़ला का प्रयोग लय–प्रदर्शन के लिए होता है। इस नृत्य में नर्तक बाएं हाथ में मोर पंखों का मूठा तथा दाहिने हाथ में डड़ला लेकर अगल–बगल वाले के डण्डे पर मारते हुए लय–ध्वनि देते हए नृत्य करते हैं। शास्त्रीय संगीत की ताल 'कहरवा' अर्थात् आठ मात्रिक एक

(1) ताल वाद्यशास्त्र, डॉ0 मनोहर भालचन्द्र राव मराठे, पृ0 72

लघु ताल लोक कलाकारों के हाथ में विभिन्न नए–2 रूपों में अर्थात लयकारी युक्त सुन्दरतम् अभिव्यक्ति पा जाती है। बुन्देलखण्ड के सैरा नृत्य में ढोलक या नगड़िया इस लय संकेत में बजाई जाती है।–

1	2	3
+++	+++	++++++

अर्थात तीन मात्रा पर विश्रान्ति पुनः तीन मात्रें पर विश्रान्ति फिर छः मात्रें पर विश्रान्ति। यही क्रम चलता है। शास्त्रीय संगीत के हिसाब से ये दादरा ताल की लय प्रदर्शित करता है अर्थात षट मात्रिक लय–क्रम। शास्त्रीय संगीत में ताल दादरा

1	2	3	4	5	6
धा	धी	ना	धा	तू	ना
X			0		

बुन्देलखण्ड के राई नृत्य में शास्त्रीय ताल कहरवा के लय–संकेत बजाए जाते हैं–

1	2	3	4	5	6	7	8
++	++	++	++	++	++	++	++

अर्थात एक–2 मात्रा में दो–2 मात्राओं की लय–बांट दिखाई देती है। शास्त्रीय ताल कहरवा इस प्रकार है– शास्त्रीय संगीत ताल कहरवा

1	2	3	4	5	6	7	8
धा	गे	न	ति	न	क	धि	न
X				0			

बुन्देलखण्ड में बधाई एक नृत्य है। इसका प्रयोग एवं प्रदर्शन शादी विवाह या देवी–दरबार में किया जाता है। ढपले से निकलने वाली ध्वनि – 'धिंग्ग धिगड़ तिक्क तिकड़' (द्रुत दादरा ताल) सदृश लगती है।

"बरेदी नृत्य (मौनिया नृत्य) करते समय ढोलक की ध्वनि प्रायः इस प्रकार होती है :

1	2	3	4	5	6
दी दी	दी दी	दी दी	दी दी	तकत्त	धुन धुन
+ +	+ +	+ +	+ +	+ +	+ +

नृत्य के समय ढपला या ढोल बजाने की शैली को उल्टा नगाड़ा कहते हैं। इसके घातों का लयात्मक स्वरूप इस प्रकार है :–

'तक त्त धुम धूम तक्कि तक्की धुम धुम

इस वादन शैली का प्रयोग बुजुर्ग की मृत्यु के अवसर पर होता है।" [1]

विषम मात्रिक 2–3 / 2–3 तथा 3–4 / 3–4 खण्ड वाले तालों में रंजकत्व तो रहता है। परन्तु इन दीर्घ मात्रिक तालों को 'अद्धा बनाकर' बजाने की प्रथा है, जिससे लय द्रुत हो जाती है और रंजकत्व बढ़ जाता है। ताल दीपचन्दी में बहुत से लोकगीत प्राप्त हुए हैं। चौदह मात्राओं की ताल के लोक में लय–संकेत इस प्रकार दिखाई देते है :–

1	2	3	4
+++	++++	+++	++++

शास्त्रीय संगीत में ताल का स्वरूप इस प्रकार है–

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
धा	धिं	S	धा	धा	तिं	S	ता	तिं	S	धा	धा	धि	S
X			2				0			3			

तालों के सार्थक प्रयोग प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध हैं। प्राचीन ताल शास्त्रों का अध ययन करने पर ज्ञात होता है कि शास्त्रीय तालों में भी मात्रिक प्रयोगों की क्लिष्टता के परिणाम स्वरूप उनका पूर्ण लोप हो गया है।

ताल के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रंथों में तालों के ठेके नहीं हैं। समान मात्रिक,

(1) भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, डा0 अरूण कुमार सेन, पृ071

अलग–2 लघु–गुरू आदि पर आधारित अलग–2 खण्डों वाले कई ताल बनाए गए हैं। तथा एक ही ताल के अलग–2 ठेके भी प्राप्त होते हैं। इससे ये लगता है कि छंद के आधार पर ही गीत के उच्चारण के अनुसार ताल के ठेकों का निर्माण किया गया होगा और यही मान्यता प्राप्त कर परम्परा में आ गए।

शारंगदेव ने देशी संगीत में कम संख्या वाले तथा छोटे –2 खंड वाले तालों में आवश्यकतानुसार दृत आदि प्रयोग करके कम मात्रिक तालों को भी स्पष्ट किया है। उन्होनें देशी गायन प्रकारों में अक्षर संख्या काल के अनुसार, मात्रा संख्या तथा यति के अनुसार खण्ड बनाकर तालों को दर्शाया है।

शारंगदेव ने लघु की मात्रा –1 , गुरू की मात्रा –2, दृत की –1/2 प्लुत की मात्रा –3 बताई है।

–(5/257–258)

इस प्रकार एक मात्रिक दो मात्रिक, तीन व चार मात्रिक, आदि तालों का औचित्य केवल देशी संगीत में लय धारणा के लिए दिखाई पड़ता है। छोटे–2 खण्डों के अनुसार छोटे–2 तालों का प्रयोग देशी गायन के लिए सुगमता पूर्वक दिया जा सकता है।

1– आदि ताल – । (एक मात्रा) – एक मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए, एक मात्रिक खंड का ताल।

2– द्वितीय –0 0 । (दो मात्रा) – दो मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए, दो मात्रिक खंड का ताल।

3– दर्पण– 00S (तीन मात्रा) – तीन मात्रा आघात से लय धारणा के लिए, तीन मात्रिक खंड का ताल

4– उदीक्षण –। । S (चार मात्रा) – चार मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए, चार मात्रिक खंड का ताल।

5– ढेंकी – S । S (पांच मात्रा) – पांच मात्रिक आघात से लय धारणा के लिए, पांच मात्रिक खंड का ताल।

इसके अतिरिक्त समान मात्रा वाले परन्तु अलग–2 खंड वाले तालों का भी उल्लेख शारंगदेव ने किया है। भिन्न–2 देशों के अलग–अलग समान मात्रा के गीत प्रकारों में उच्चारण–बल एवं खंडो के अनुसार उन तालों का वादन भी सुलभ था।

1– 6 मात्रिक ताल – रति – IISS, कंदर्प – 00ISS श्रीकीर्ति SSII आदि।

2– 5 मात्रिक ताल – कंकाल सम SSI और विषम ISS,

3– 8 मात्रिक ताल – जयश्री SSS, अनंग– ISIS नान्दी – I00IISS आदि।"

– (2/257/258) संगीत रत्नाकर,।

लोकसंगीत में तो लय–साम्य का ही आनन्द है। इसके लिए भारतीय संगीत के सहज लघु ताल ही पर्याप्त हैं। समान मात्रा काल के होने पर भी गीतों के वजन उच्चारण तथा भाषा के भेद के कारण अंग एवं ठेके में अन्तर हो जाता है। कुछ लोग कहरवा ताल को चार मात्रिक बताते हैं। चार व छः मात्रिक तालों का वादन अलग–2 बोल एवं वजन से किया जाता है। कई बार एक ही ताल के ठेके के बोलों को बदल कर भी बजाया जाता है।

कई तालों में खाली नही होती तथापि लोक संगीत में उसके ठेके को एक बार ताली दर्शक बोलों से तथा दूसरी बार खाली–दर्शक बोलों से बजाते हैं।

ठेके को दुगुन या चौगुन लय में बजाकर तिहाई लेकर सम पर आने से और रंजकता बढ़ती है। क्लिष्ट तालों का आनन्द निश्चित रूप से एक विशिष्ट वर्ग को मिलता है तभी तो शास्त्र पक्ष तालों के क्लिष्ट रूप को भी आश्रय देता है।

'मुण्डे –मुण्डे मतिर्भिन्ना, तुण्डे तुण्डे सरस्वती' – इस कहावत के अनुसार– लोक रूचि वह आधार शिला है जो समय और परिस्थितियों के अनुसार कला का निर्माण करती है।

आज प्रचलित संगीत में बारह मात्रा वाले न तो संगीत–रत्नाकर के मार्ग ताल ही हैं और न देशी तालों में से कोई बचा है। चौताल, एकताल विलम्बित व अति विलम्बित रूप में आज ध्रुपद, ख्याल, द्रुत ख्याल, तराने आदि की लयात्मकता का नियंत्रण कर रहे हैं।

क्लिष्ट तालों में बंधी सांगीतिक रचनाएं रूचि के प्रतिकूल होने पर नष्ट हो गईं।

प्रचलित कम मात्रिक तालों का स्थान भी रूचिभेद के कारण अन्य सहज तालों ने ले लिया।

लोकरूचि में भी परिवर्तन के कारण रहे हैं। क्योंकि संगीत का विकास विशेष रूप से राज दरबारों एवं मन्दिरों में हुआ। मन्दिरों में जिन गीत–शैलियों का भक्ति व रस पूर्ण विकास हुआ उनके लिए उनके अनुसार ही ताल–निर्माण की आवश्यकता हुई। समान मात्राओं के होते हुए भी सभी ताल किसी एक गीत–शैली को ग्राह्य नहीं हुए। बारह मात्राओं का चौताल ध्रुपद गायन के लिए प्राचीन काल से आज तक बजता चला आ रहा है। गीतों में भक्ति व कथावस्तु गंभीर होने के कारण चौताल के खुले थाप का प्रयोग मृदंग या तबले पर भला लगता है।

दूसरी ओर राजदरबारों में विशेष कर मध्य कालीन संगीत में श्रंगार होने के कारण बारह मात्राओं की चौताल अप्रिय प्रतीत हुई। जिस प्रकार ध्रुपद का स्थान 'ख्याल' ने ले लिया उसी प्रकार 'चौताल' का बारह मात्रें की 'एकताल' ने। खण्ड, मात्रा, ताल, काल, क्रिया आदि समान होने पर भी दोनों तालें संगीत में रूचि एंव परिवर्तन की जीवन्तता को प्रकट करती है। ताल चौताल–

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
धा	धा	दिं	ता	किट	धा	दिं	ता	तिट	कत	गदि	गन
x		0		2		0		3		4	

ताल एकताल –

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12
धिं	धिं	धागे	तिरकिट	तू	ना	क	त्ता	धागे	तिरकिट	धी	ना
x		0		2		0		3		4	

तालों की रचना किसी गीत या वाद्य शैली के लिए स्वतंत्र रूप से नहीं की गई है। इसलिए वादक गायक अपनी इच्छानुसार व गीत की मांग के अनुसार तालों व उनके बोलों का चयन कर लेते हैं।

शास्त्रीय तालों के प्रयोग भिन्न –2 लयों के आधार पर भिन्न–भिन्न होते हैं।

दादरा, कहरवा, रूपक, तीव्रा, झपताल व सूलताल द्रुत गति में ही अच्छे लगते हैं तथा इनका प्रयोग भी इन्हीं के अनुरूप गीत शैली में प्रिय लगता है।

इसी प्रकार त्रिताल, चौताल, एकताल, धमार मध्यलय में एवं तिलवाड़ा, झूमरा व दीपचन्दी विलम्बित लय में उचित प्रतीत होते हैं।

धमार ताल भी एक प्राचीन ताल है। बंगाल के संगीत नायक गोपश्वर बन्दोपाध्याय के अनुसार '' श्री कृष्ण काल में 'होली–ताल' नामक एक विशिष्ट ताल था। होली प्रसंग के सब गीत उसी ताल में निबद्ध होते थे। मध्यकाल में यह ताल अप्रचलित रहा और सन् 1738 में मुहम्मद शाह (द्वितीय) के काल में सदारंग ने पुनः इस ताल को 'धमार' नाम देकर प्रचलित किया।''[1] इसमें 14 मात्राएं हैं। तीन ताली व एक खाली का विषम पद मिश्र जाति का मानते हैं 5/2/3/4 के खण्ड हैं। कुछ विद्वान 3/2/2/3/4 के अनुसार तीन ताली व दो खाली मानते हैं। पंजाब में ताल का स्वरूप 3/4/3/4 मानते हैं।

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
क	धि	ट	धि	ट	ध	ऽ	ग	ति	ट	ति	ट	त	ऽ
x					2		0			3			

शास्त्रीय संगीत में सबसे अधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय ताल 'त्रिताल' है। प्राचीन ताल ग्रंथों में इस ताल का उल्लेख नहीं मिलता है। ''मुस्लिम काल में इस ताल का नाम 'खमसा' था''।[2] भिन्न–2 लयों में इसको प्रदर्शित किया जाता है। अति विलम्बित लय में यही ताल तिलवाड़ा नाम से जानी जाती है। अति द्रुतलय में बोलों का उचित निर्वाह कम वादक ही कर पाते हैं। इस ताल के मध्य लय में 16 मात्रा, 3 ताली व 1 खाली है। सम पदरूप 4/4/4/4 पर त्रिताल को आधारित कर असंख्य लय–प्रस्तार तबले पर दिखाकर नये–2 तालों की कल्पना सम्भव हो सकी है।

---

(1) भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, अरूण कुमार सेन, पृ0 –196

(2) तुहफात– उल–हिन्द ग्रन्थ में उल्लिखित भारतीय संगीत ताल छन्द, पृ0 75।

"अद्धा' आधा का पर्यायवाची है। 'त्रिताल' की मात्राओं की आधी संख्या होने के कारण इसे 'अद्धाताल' कहते है। इस ताल का प्रचलन पंजाब से प्रारम्भ हुआ, ऐसा कहा जाता है। इसमें 8 या 16 मात्राओं को त्रिताल के समान ही चार बराबर खण्डों में बांटते है।

अद्धा ताल

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
धा	धिं	–	धा	धा	धिं	–	धा	धा	तिं	–	ता	ता	धिं	–	धा
x				2				0				3			

ताल त्रिताल का शास्त्रीय स्वरूप–

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16
धा	धिं	धिं	धा	धा	धिं	धिं	धा	धा	तिं	तिं	ता	ता	धि	धिं	धा
x				2				0				3			

'लोक एवं शास्त्रीय अवनद्ध वाद्यों की बजौटी' (वादन शैली)

शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त सर्वप्रथम अवनद्ध वाद्य के रूप में 'मृदंग' का ही उल्लेख मिलता है।

किसी भी वाद्य की वादन शैली तथा वादन विधि मुख्य रूप से वाद्य की बनावट पर निर्भर करती है। शास्त्रीय संगीत में संगत के लिए पखावज एवं तबले का मुख्य रूप से प्रयोग किया जाता है। वहीं लोक संगीत में मुख्य रूप से ढोलक का। वैसे तो अवनद्ध वाद्यों में पखावज, मृदंग, तबला, नगड़िया, ढोल, दुंदुभि आदि–2 कितने प्रकार के वाद्य हैं, परन्तु गीत व गायकी के अनुरूप ही उपयुक्त वाद्य की संगति की जाती है।

तबले की बनावट के अनुसार इसमें थाप की अपेक्षा अंगुली से वादन सरल पड़ता है। दाएं तबले पर अंगुली वादन से जो बोल निकलते हैं, वे बन्द बोल कहलाते हैं। बाएं पर हाथ की अंगुली के साथ–2 हथेली को घिसकर या दबाव देकर बोलो को ढोलक की तरह धमकदार

बजाया जा सकता है।

यद्यपि तबले के बोलों में प्रयुक्त वर्णों की रचना का आधार पखावज के वर्ण ही हैं। तथापि वर्णो के उच्चारण तथा निकास में अन्तर है। पखावज बोलों के वर्णों (पाटाक्षरों) की संख्या में भिन्नता दिखाई देती है। कोई 7 वर्ण कोई10 वर्ण तो कोई–2 शास्त्रकार 16 वर्ण बताते हैं।

7 वर्ण – ता, दिं या दी, ना, तिं, टयार, क, घ।

10 वर्ण– ता, दिं या दी, धा, तिं, ग, या, घ, धिं, ती, ट, र, क।

16 वर्ण – क, ख, ग, घ, त, थ, द, ध, न, ट, ठ, ड, ढ, म, र , ल।

उपरोक्त में से कुछ वर्ण संयुक्त आघात के वर्ण हैं। कुछ का उच्चारण अलग होते हुए भी निकास विधि एक है।

प्रमुख पाटवर्णों की वादन विधि–

1– क, का, कत, के , की :– ये बोल तबला और मृंदग दोनों में थाप के समान बजते है। मृदंग के दक्षिण मुख अथवा तबले की स्याही पर दाहिने हाथ की चारों अंगुलियों को मिलाकर आघात देने से ये बजते हैं। जबकि लोकवादक ढोलक पर बांए हाथ से चारों अगुलियों को जोड़कर बन्द रूप से कत बजाते हैं।

2– ग, गी, घ, घी, गे, धे :– ये बोल मृदंग में बाई तरफ चारों अंगुलियों से (अगूंठा छोड़कर) बजाते हैं। इन्हीं को तबले पर बाएं हाथ की पहली अंगुली से बाएं तबले पर स्याही से आगे और चांटी के पास बजाते हैं। साथ ही दूसरी अंगुली का भी प्रयोग किया जाता है।

जबकि लोक कलाकार ढोलक के बाएं मुख पर हाथ को कलाई से मोड़कर तर्जनी अथवा मध्यमा अंगुली से बजाते हैं।

3– धा :– मृदंग में दाहिने हाथ से ता और बाएं हाथ से खुला 'ग' एक साथ बजाने से 'धा' निकलता है तबले पर यही वर्ण दोनों हाथों के संयोग से बजाया जाता है। तबले की किनारी पर दाहिने हाथ की तर्जनी से घात तथा बाएं पर 'ग' या 'घ' बजाने पर 'धा' बनता है।

4– ना, ता , न तिन :– इन वर्णों को मृदंग में किनारी पर तर्जनी से आघात करके बजाते हैं।

यही विधि तबले में भी प्रयोग की जाती है।

लोकवादक इन बोलों को दाहिने हाथ की अनामिका अंगुली से बजाते है। बाकी दो अगुलियाँ व अंगूठा ऊपर उठा रहता है।

5– ट, ड :– मृदंग तथा तबले पर दाहिने हाथ की चारों अंगुलियों को मिलाकर स्याही पर खुला आघात देकर बजाते है।

6–दी, ती, थ, द, म :– मृदंग तथा तबले पर दाहिने हाथ की चारों अंगुलियों को मिलाकर स्याही पर खुला आघात देकर बजाते हैं।

जबकि लोकवादक ढोलक के दाहिने मुख पर चारों अंगुलियों को फैलाकर तराश की भांति बजाते हैं। ढोलक के दाहिने मुख पर केवल अनामिका, कनिष्ठका को जोड़कर आघात किया जाता है।

7–तृक :– अनामिका, मध्यमा व तर्जनी इन तीन अंगुलियों से स्याही पर आगे पीछे मारने प 'तृ' और अनामिका तथा मध्यमा इन दो अंगुलियों से स्याही के बीच में बन्द आघात करने पर 'क' निकलेगा।

8–र, ल :– तर्जनी से स्याही पर बन्द आवाज करने पर 'र' एवं खुली आवाज करने पर 'ल' वर्ण निकलता है। कुछ वर्ण ऐसे हैं जिनका ढोलक पर प्रयोग नहीं होता है। यहाँ तक कि तबले पर भी कुछ वर्ण मृंदग के पाटाक्षरों का अनुकरण कर ही बजाए जाते हैं।

लोक वादकों की बजौटी में बोलों का निकास उनकी अपनी बुद्धि की उपज होता है। अतः इनकी बजौटी में निकास विधि में अन्तर आना स्वाभाविक है।

शास्त्रीय तालों के वादन में ताली खाली का नियत स्थान होता है जिनका पालन आवश्यक एवं नियमित रूप से किया जाता है। जबकि लोकवादन के लिए ताली पर ताली एवं खाली पर खाली का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वह गीत के अनुसार वजन के अनुसार वादन करता है। कभी कभी खाली के स्थान पर पुनः ताली को स्थान दे देता है। कभी तो ताली–ताली का ही क्रम और कभी–2 खाली–खाली ही बजाते रहते हैं।

तबले पर जिस प्रकार तराश का 'ता' बजाया जाता है। इसके विपरीत हाथ के पंजे को जोड़कर गोकर्ण आकृति के समान बनाकर ढोलक के दाहिने मुख पर आघात किया जाता है।

तबले पर 'क' वर्ण बजाने के लिए बांए तबले पर हाथ जोड़कर स्याही पर बन्द आघात करते हैं, किन्तु लोक वादक बाएं हाथ की तीन अंगुलियों को जोड़कर हाथ को मोड़कर तीनों अंगुलियों से आघात करके 'क', के, की इत्यादि बोल बजाते हैं।

यद्यपि लोकसंगीत के कई गीत प्रकारों में समान मात्राओं का तथा समान खण्डों का निर्वाह होता है तथापि गीत के वजन में अंतर होने से अलग–2 ठेकों या बोल समूहों का वादन गीत की प्रकृति के अनुसार आवश्यक होता है जैसे कहरवा ताल को कई प्रकार से बजाते हैं –

धागे नति नक धिंऽ' –को

धागे, नधि नक धिन ताके नाति नक तिन

धिंड धागे निधं नक तिंड ताके नति नक आदि –2।

लोकवादक लोकगीतों के प्रकार, वजन, भाव आदि को समझकर ही संगत करता है।

शास्त्रीय ताल वाद्यों में पाटाक्षरों का विशेष महत्व होता है। क्योंकि ये पाटाक्षर शास्त्र के अनुरूप निर्मित किए गए हैं।

लोक में पीढ़ी दर पीढ़ी जो बजौटी बजती चली आ रही है, उसी का अनुकरण अगली पीढ़ी करती आ रही है। कभी भी शास्त्र के बन्धन को स्वीकार नहीं किया गया है। अवनद्ध वाद्यों की वादन प्रणाली की भिन्नता को भी पूर्व से चली आ रही रीति नीति को लोक ग्रहण करता चला आ रहा है। अवनद्ध लोकवाद्यों को उनकी रचना, बनावट एवं आकार प्रकार के अनुसार कभी अंगुलियो से बजाया जाता है, तो किसी वाद्य को डण्डियों से तथा किसी को हाथ एवं डण्डियों के दोनों सहयोग से। कोई वाद्य ठोकर से बजाए जाते हैं।

'बजौटी में लय की अनेकरूपता एवं वैचित्र्य

अवनद्ध लोक एवं शास्त्रीय ताल वाद्यों में वर्णों के आघात, उनकी निकास–विधि, गीतों के भाव एवं वजन के अनुसार उनकी संगत आदि के अतिरिक्त बजौटी (वादन शैली) में लय का वैचित्र्य एवं लय–गति का परिवर्तन बजौटी में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके लिए संगीत में विभिन्न साधनों का प्रयोग किया जाता है :–

1–लय–गति में परिवर्तन के आधार पर :– शास्त्रीय संगीत में ताल में लय–गति परिवर्तन दिखाने के लिए सवाई, ड्योढ़ी, पौने दो गुनी 'लय गति' का प्रयोग किया जाता है। कुशल वादक इन गतियों को भी द्विगुण या चतुर्गुण कर गति का निर्वाह कर लेते हैं। जबकि लोक संगीत में वादक के ऊपर निर्भर करता है। वो जब स्वतंत्र रूप से बजा रहा होता है तो लय–वैचित्र्य दिखाने के लिए आड़ कुआड़ का प्रयोग करता है। भिन्न–2 लयकारियों से चमत्कृत कर देता है। कहरवा में दादरा कभी दादरे में कहरवा अर्थात– 8 मात्रों में 6 व 6 में 8 यह उसके लिए साधारण सी बात है।

2–आघात क्रम के परिवर्तन के आधार पर :– शास्त्रीय संगीत में लयाघात द्वारा लय–गति में परिवर्तन करने के निश्चित नियम होते हैं। अर्थात निश्चित घातों को बदलकर अस्थाई रूप से पृथक घात स्थानों का निर्माण करना जैसे झपताल के घात क्रम 2/3/2/3 को बदलकर 3/2/3/2 या दीपचन्दी के 3/4/3/4 को बदलकर 4/3/4/3 का रूप दिया जाए तो निश्चित मात्राओं का निर्वाह होते हुए भी घात परिवर्तन के फलस्वरूप ताल में लय का वैचित्र्य अनेकरूपता पैदा करता है।

इसी प्रकार लोकवादक भी आघात परिवर्तन कर लय–वैचित्र्य का आनन्द प्रदान करते है। प्रत्येक आवर्तन में लयाघात बदलते रहते हैं।

3–मात्राओं की विश्रान्ति या विराम :– ''मात्राओं की आंशिक विश्रान्ति या विराम को 'खम'– तथा दीर्घ विराम को संगीत की भाषा में 'दम' कहते है '' (1) गीतों में मात्राओं पर अक्षर का उच्चारण

(1) भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन, डा0 अरूण कुमार सेन, पृ0 383

न करके आगे पीछे अर्थात – 'आफबीट' जिसे हम अतीत–अनागत भी कह सकते हैं इससे लय की खूबसूरती बढ़ जाती है। इसी प्रकार तबले व मृदंग में दम या बेदम दार बोलों के प्रयोग में लय वैचित्र्य का आधार विराम ही है।

लोक संगीत में तो इस प्रकार की विश्रान्ति का चमत्कार बहुतायत में देखने को मिलता है। लोक में हमें 5 से 7 मात्राओं तक का 'दम' (विराम) देखने को मिला है। कहरवा या दादरा में वादक 'धा' या 'ता' बजाकर विराम कर लेता है। कभी–2 ये एक आवर्तन तक भी चला जाता है। लोक में मात्रा विराम के लिए कोई नियम नहीं है। वादक की अपनी मस्ती, अपनी बुद्धि एवं भाव उसकी लय–वैचित्र्य के जनक बन जाते हैं। कभी–2 तीन बार 'ता ता ता ' बजाकर लयकारी का प्रदर्शन कर लेते हैं। देखने में जहाँ लगता है कि यहां तो 'दम' खम का स्थान ही नहीं है, वे वहॉ पर भी चमत्कार कर लेते हैं।

लोकवादक वाद्य बजाते समय ताली या खाली पर ही जोर नहीं देते बल्कि ठेके की किसी भी मात्रा पर जहाँ गीत की मांग होती है, या उनकी बुद्धि कौशल का चातुर्य वे वहाँ पर भी वजन देकर लय–वैचित्र्य उत्पन्न कर देते हैं।

स्वरात्मकता से पूर्ण अर्थात गीत के बोलों का प्राबल्य या दौर्बल्य उच्चारण भी लय–वैचित्र्य प्रकट करता है।

एक ओर जहाँ शास्त्रीय संगीत शास्त्रों में लिपिबद्ध है इसमें और नवीन प्रयोग तथा इसका विकास क्रम तीव्र गति से बढ़ रहा है, संगीत कलाकार एवं शास्त्रज्ञ प्रयोग एवं प्रदर्शन व शोध के माध्यम से इसे और समृद्ध करने मे लगे हैं। वहीं हमारा लोक जो प्रकृतितः निश्चल, अविरल प्रवहमान है उसको नियमों में बांधना कठिन ही नहीं असम्भव है।

फिर भी उसको सुरक्षित एवं सरंक्षित करने के प्रयास में ये शोध एक कड़ी के रूप में जुड़ रहा है। आज फिर से वो समय आ गया है। जहाँ हम जीवन की चक्रिक प्रक्रिया के कारण पुनः आवर्तन के 'सम' पर आ पहुंचे हैं। हमें हमने प्रारम्भ से बहुत कुछ सीखना है, और इसे लिपिबद्ध भी करना है।

शास्त्रीय संगीत का 'ताल शास्त्र' बहुत अधिक समृद्ध है। इतना अधिक समृद्ध कि इसको कई श्रेणियों में विभाजित करना पड़ा। शास्त्रीय तालों को मुख्यतः पांच श्रेणियों में बांटा गया।

1--ध्रुपद अंग के ताल:— चौताल, आड़ा चौताल, सूलताल, तीव्रा, झपताल एवं धमार।

2--ख्याल अंग के ताल :—तिलवाड़ा, एक ताल, झूमरा आदि।

3—टप्पा अंग के ताल :— पंजाबी, टप्पा, मध्यमान (बंगाल) जलताल आदि।

4—ठुमरी अंग के तोल :— दीपचन्दी, अद्धात्रिताल, झपताल आदि।

5—सुगम एवं लोक संगीत के ताल :— कहरवा, दादरा, धुमाली, दीपचन्दी, (द्रुत) खेमटा आदि।

लोक संगीत में शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा तालें तो बहुत कम है। या यूं कहें कि लयात्मकता के अन्तर्गत लय—खण्ड हैं जो लय—साम्य या लय—वैषम्य को प्रदर्शित करते हैं और उसी में हमारे कलाकार गायन, वादन एवं नृत्य को कलात्मक एवं चमत्कार पूर्ण प्रदर्शन कर लेते हैं।

हमारी भारतीय संगीत संस्कृति का इतिहास तो सहस्त्रों वर्ष पुराना और समृद्ध है। इससे भी प्राचीन हमारा लोक शास्त्र है, जहाँ का क्रियात्मक पक्ष और अधिक सुदृढ़ है। कतिपय मृंदग या तबला वादकों के स्वतंत्र वादन तक ही इसकी सीमा नहीं है बल्कि इसका विस्तार गायक, वादक और नर्तक के स्वतंत्र प्रदर्शन से लेकर संगत तक तथा इससे भी आगे एक ही व्यक्ति द्वारा संगीत की तीनों विधाएं गायन वादन एवं नृत्य का एक साथ प्रदर्शन हमारे लोक को शास्त्र से भी अधिक समृद्ध एवं समुन्नत बनाता है।

उपसंहार

'उपसंहार'

संगीत सृष्टि ध्वनि आन्दालनों का परिणाम है। तथा समस्त प्रकृति वस्तुजगत गतिमान है। चेतना, गति का प्रतीक है। सृष्टि का समस्त अन्तर–वाह्य व्यापार गति के शाश्वत नियमों से बंधा हुआ है।

भारतीय संगीत के दो आधार स्तम्भ हैं– 'स्वर और लय' संगीत की सृष्टि के संवाहक हैं। ये किसी क्षेत्र विशेष की सीमा में नहीं बधें हैं। चाहे शास्त्रीय संगीत हो या लोक संगीत। चाहे ब्रज का संगीत हो या बुन्देलखण्डी। ये तो संगीत के प्रारम्भिक तत्व हैं। संगीत की इमारत इन्हीं दोनों नींव के पत्थरों पर आसीन है।

'लय' जब जीवन में है, तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वयमेव है। काव्य में, शिल्प में, मूर्तियों में, सभी ललित कलाओं में जहॉ–2 जीवन है वहॉ लय है। इसी से हमारी संस्कृति गतिशील है।

भाव, रस, ध्वनि और गति (लय) की धारणा भारतीय कला की एक विशेषता है। ये धारणाएं लोक कलाओं में, कलाकारों एवं श्रोताओं के मन को अनुरंजित करती हैं।

लोकवाद्य, लोगीत एवं लोकनृत्य का समुच्चय ही लोक संगीत है। लोक संगीत से सम्बन्धित कई विषयों पर शोध कार्य किये जा रहे हैं। संकलन, संपादन एवं प्रकाशन की ओर लोगों का रूझान इधर बहुत तेजी से बढ़ा है। जो प्रगति का सूचक तो है, परन्तु शोध कार्य की दिशा में ठोस कार्यों की प्राथमिकता होनी चाहिए। कितने विषय अभी अछूते हैं, और कितने अंकुरित होने को अग्रसर हैं। आवश्यकता है ऐसी दृष्टि की जो ऐसे बीजों को खाद पानी देकर अंकुरित कर उन्हें पल्लवित एवं पुष्पित कर सके। तथा हमारी संस्कृति को और समृद्ध कर सके।

भारतीय सांगीतिक वाद्यों के वर्गीकरण के सिद्धान्त (पैटर्न) के अनुसार ही बुन्देलखण्ड के लोकवाद्यों का वर्गीकरण एंव वर्णन किया है। साथ ही साथ उन वाद्यों का भी

वर्णन किया गया है, जो हमारे क्रिया अंग रूपी वाद्य कहलाते हैं। इनकी एक विशेष श्रेणी है। सर्वप्रथम हमारे क्रिया–अंगों ने ही वाद्य का रूप लिया था। आज भी जनसाधारण इसका प्रयोग करते दिखाई देते हैं। चक्की, सूप, खल–मूसर, बैल हांकते समय बैलों के गले की घण्टी आदि से निसृत स्वर और लय हमारे लोकगीतों के आधार हैं। तथा पूर्ण रंजकत्व प्रदान करते हैं।

बुन्देलखण्ड के लोकगीतों एवं लोक–नृत्यों के साथ बजने वाले वाद्यों की बजौटी में लय के विभिन्न एवं विशेष भाव व्यक्त हुए हैं। बुन्देली गीत प्रकारों एवं नृत्य गीत प्रकारों के साथ संगत करने में लघु तालों का या निश्चित छोटी–2 मात्रा के बोल समूहों का वादन हुआ है। लोक बजौटी में शास्त्रीय नियमों का पालन नहीं होता बल्कि, गीत के वजन के अनुसार वाद्य की बजौटी होती है।

लोकगीतों के कई गीत प्रकारों के साथ समान मात्राओं का तथा समान खण्डों का निर्वाह होता है, तथापि गीत–प्रकारों के वजन में अन्तर होने से वाद्य की बजौटी में अन्तर आ जाता है।

बहुत सी लोकधुनों में लय सूचक कोई वाद्य न बजाए जाने पर भी स्वर के महत्व के साथ–2 यदि विशेष ध्यान दिया जाए तो लय स्पष्ट दिखाई देती है।

लोकगीतों में दो प्रकार की लय दिखाई दी। पहली समान भाग की लय जो सरल होती है। और दूसरी क्लिष्ट विभाजन की लय, जिसके विभाग या खण्ड असमान होते हैं। परन्तु लोक कलाकार दोनों ही प्रकारों में अत्यन्त सहज हो वादन करता है।

लोकगीतों में अधिकतर लय व ताल दर्शाने वाले वाद्यों का ही प्रयोग होता है। प्रायः द्रुत लय का प्रयोग ही लोकगीतों में दिखाई देता है। विलम्बित तालों को अद्धा बनाकर बजाने की प्रथा है।

बुन्देलखण्ड के विशेष गीत प्रकारों में विशेष 'लयवाद्यों का प्रयोग अलग–2 दिखाई दिया। जैसे आल्हा व फाग के साथ ढोलक का, नौटंकी के साथ नक्कारा, ख्याल के साथ ढफली या चंग, गोटों के साथ ढॉक तथा संस्कार गीतों के साथ प्रायः ढोलक एवं मंजीरा ही

बजता है।

एक ही प्रकार के ठेके को भिन्न–2 प्रकार से गीतों की आवश्यकतानुसार बजाया गया है। कहीं–2 लय को दुगुनी, चौगुनी कर अन्त में तिहाई लेकर 'सम' पर आने से उसमें रंजकता अधिक दिखाई दी है।

एक ही लोकगीत या लोकनृत्य में कई वाद्यों की बजौटी का मिश्रण विविधता पैदा करता है। हालांकि वजन में अन्तर दिखाई देता है। कभी किसी बोल पर अधिक जोर देते हैं तो कभी किसी बोल पर। ये वादक के मूड पर निर्भर करता है कभी सम छोड़ता है, कभी सम पकड़ता है।

कभी –2 किसी गीत में वाद्यों की बजौटी एक लम्बी लड़ी (बोलों) से शुरू होती है फिर तिहाई लेकर ठेके पर आते हैं। कभी–2 तिहाइयों के स्थान पर छोटे–2 मोहरों का वादक कलाकार प्रयोग करते हैं। कभी कभी ठेकों को पलट देते हैं, जिससे लयात्मक स्वरूप बदल जाता है।

किन्हीं–2 लोकगीतों या लोकनृत्यों में दादरा और कहरवा अर्थात् छः मात्रा व आठ मात्रा साथ–2 चलती है। दोनों ही लय साफ दिखाई देती है। नृत्य के पदचाप एवं गीत की मांग के अनुरूप 'लय' बदलती जाती है।

लय–निर्वाह की सबसे प्राचीन प्रणाली हाथ से ताल देने की रही है। लोक संगीत की लयात्मकता को तालों द्वारा नहीं बल्कि सम या विषम मात्रिक खण्डों द्वारा गीतों को लय में स्थापित किया गया है।

चूंकि लोकसंगीत में स्वर एवं ताल की नहीं, अपितु शब्द उच्चारण, भाव रस तथा लयात्मकता की प्रधानता होती है, अतः लय ही 'ताल रूप में निरूपित होकर संगीतोपयोगी बनती है।

लय के जो नैसर्गिक लय स्वरूप हैं, उनको कलाकारों ने ग्राह्य कर लिया है. उनकी अपनी बजौटी में ये लय–संकेत ही भिन्न–2 बोलों के रूप में बजते हैं, जिन्हें हमने वजन

के हिसाब से तालों के चौखटों में बिठा कर उनकी शास्त्रीय तालों से तुलना करने का प्रयास किया है।

बुन्देलखण्ड के बधाई नृत्य में ढपले से निकलने वाली ध्वनि अर्थात् बधाई की बजौटी लोक की भाषा में निम्न है–

धिंग्ग धिगड़ तिक्क़ तिकड़ | धिंग्ग धिगड़ तिक्क तिकड़

देखने में तो ये 8 मात्रें है जो कहरवा ताल के द्योतक हैं परन्तु इनकी बजौटी में इनका वजन 6 मात्रों का दिखाई देता है जो दादरा ताल का सूचक है। जो इस प्रकार सुनाई देते हैं–

धाऽधी ऽनाऽ धाऽतू ऽनाऽ | धाऽधी ऽनाऽ धाऽतू ऽनाऽ

समान मात्रा काल के होने पर भी गीतों के वजन, उच्चारण भेद के कारण अंग एवं ठेके में अन्तर हो जाता है।

कई तालों में खाली नहीं है तथापि उस ठेके को एक बार ताली–दर्शक बोलों से तथा दूसरी बार खाली–दर्शक बोलों से बजाते हैं।

लोकसंगीत में वाद्य शैली के लिए कोई स्वतंत्र बोलों की या बजौटी की रचना तो की नहीं गई है। वादक अपनी इच्छानुसार व गीत की मांग के अनुसार तालों व उनके बोलों का चयन कर लेते हैं और वही 'बजौटी' उनकी शैली बन जाती है।

लोक की बजौटी में हमें 5 से 7 मात्राओं का दम (विश्रान्ति) देखने को मिला है। कहरवा या दादरा में वादक 'धा' या 'ता' बजाकर विराम कर लेता है। लोक में मात्रा–विराम के लिए नियम नहीं हैं। वादक अपनी मस्ती , अपनी बुद्धि एवं भाव से लय–वैचित्र्य उत्पन्न कर देते है। कभी–2 तीन बार 'ता ता ता' बजाकर लयकारी प्रदर्शन कर देते हैं। देखने में जहाँ ऐसा लगता है कि यहाँ तो 'दम खम' का स्थान ही नहीं है, वे वहाँ पर भी चमत्कार कर देते हैं।

ये तो निश्चित है कि लोक को हम नियमों के कठिन बन्धन में तो बांध नहीं सकते हैं फिर भी लोक और शास्त्र के समन्वय को दृष्टि में रखते हुए शोध की दिशा में एक–एक कदम आगे बढ़ाते हुए इसे समृद्ध कर सकते हैं।

उपर्युक्त शोध कार्य के माध्यम से लोकवाद्यों की बजौटी (लोकशैली) की शास्त्र शैली से तुलना कर लोक की अपनी पहचान को स्थापित करने का सम्पूर्ण प्रयास किया गया है।

निष्कर्षतः ये शोध अभी तक किए गए शोध कार्यो में अपना विशिष्ट स्थान रखेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।
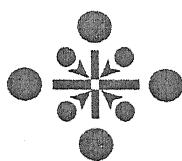
सन्दर्भ-ग्रन्थ

'सन्दर्भ–ग्रन्थ'

(क) 'संस्कृत वाग्ङमय के ग्रन्थ'

1. ऋग्वेद : संस्कृत सरस्थान, बरेली।
2. जैमिनीय उपनिषद् : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
3. मनुस्मृति : कृष्णदास अकादमी–वाराणसी–1990
4. मैत्रायिणी संहिता : चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी–1968।

(ख) हिन्दी के ग्रन्थ

5. (श्री उमाशंकर–शुक्ल : 'बुन्देलखण्ड के लोकगीत', इण्डियन प्रेस इलाहाबाद सं0 2010।
6. (डॉ0) कृष्णदेव उपाध्याय : भोजपुरी लोकगीत : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं0 2008
7. (डॉ0) कृष्णलालहंस : बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग–1976।
8. (श्री) गौरीशंकर द्विवेदी : बुन्देल वैभव, श्री रामेश्वर प्रसाद द्विवेदी 'रमेश' बुन्देल वैभव ग्रन्थमाल, टीकमगढ़, (बुन्देलखण्ड) सं0 1990
9. (श्री) त्रिलोचन पाण्डेय : लोक साहित्य का अध्ययन, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग–प्रयाग।
10. (डॉ0) धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, लोक–भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
11. (श्री) बलभद्र तिवारी।

    1– बुन्देली काव्य परम्परा : बुन्देली पीठ,हिन्दी विभाग, सागर (म0प्र0)

2— बुन्देली लोक काव्य भाषा : बुन्देली पीठ, हिन्दी विभाग, सागर, (म0प्र0)

3— बुन्देली समाज और संस्कृति : प्रमोद प्रकाशन, 218ए, जंगपुरा —दिल्ली।

4— बुन्देलखण्ड का ऐतिहासिक मूल्यांकन— राधा कृष्ण बुन्देली, सत्यभामा बुन्देली, बांदा

12. नाट्य शास्त्र का 28 वां अध्याय, ब्रहस्पति पब्लिकेशन्स, साहित्य संगीत संगम, डी/4—सी दिल्ली—1986

13. (श्री) भोलानाथ तिवारी

1— भाषा—विज्ञान, किताब—महल, इलाहाबाद, सन 1974

2— भाषा विज्ञान कोष, ज्ञान मण्डल लि0 वाराणसी—2020 वि0।

14. (श्री) मतंग मुनि : वृहद्देशी, सम्पादक—बालकृष्ण गर्ग, संगीत कार्यालय हाथरस (उ0प्र0) 1976।

15. (श्री) मनोहर भालचन्द्रराव : ताल वाद्य शास्त्र, शर्मा पुस्तक सदन, पाटनकर बाजार, ग्वालियर (म0प्र0)

16. (श्री) मोतीलाल त्रिपाठी : बुन्देलखण्ड—दर्शन, शारदा साहित्य कुटीर, 86 पुरानी नझाई, झांसी—1980

17. (डॉ0) मोती लाल चौरसिया : बुन्देली लोकगीतों का सांस्कृतिक अध्ययन, क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली—1989।

18. (डॉ0) वासुदेव शरण अग्रवाल : 'पृथिवी पुत्र' राम प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा—1960।

19— (डॉ0) वासुदेव शास्त्री : संगीत—शास्त्र, प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग (उ0प्र0) 1958।

20. (डॉ) विद्या चौहान : 'लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि', प्रगति प्रकाशन आगरा—1972

21. (श्री) रामचरण मित्र : बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली—1969।

22. (डॉ0) रामस्वरूप श्रीवास्तव 'स्नेही', बुन्देली लोकसाहित्य, रंजना प्रकाशन, आगरा–1976

23. (डॉ0) लालमणि मिश्र : भारतीय संगीत वाद्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन बी/45–47 कनाट प्लेस, नई दिल्ली–1973।

24. शारंगदेव : संगीत–रत्नाकार (हि0 अनु0), सं0 लक्ष्मी नारायण गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस–1975।

26. (डॉ0) श्याम परमार : भारतीय लोक साहित्य, राजकमल, प्रकाशन–बम्बई

27. (श्री) श्री कृष्णदास : लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या, प्रयाग, 1956।

28. (डॉ0) सत्येन्द्र : ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, –1949।

30. (डॉ0) स्वतन्त्र शर्मा : भारतीय संगीत का वैज्ञानिक विश्लेषण, टी0 एन0 भार्गव एण्ड सन्स, 1131 कटरा, इलाहाबाद–1986।

31. (डॉ0) हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव : राग–परिचय, संगीत–सदन प्रकाशन साउथ–मलाका, इलाहाबाद–1984,85,93

32. (डॉ0) वीणा श्रीवास्तव : बुन्देलखण्डी लोकगीतों में सांगीतिक तत्व राधा पब्लिकेशनन्स, नई दिल्ली।

33. (डॉ0) नर्मदा प्रसाद गुप्त :

    1– बुन्देली लोक साहित्य और इतिहास

    2– बुन्देली संस्कृति और साहित्य : सं0 कपिल तिवारी प्रियंका आफसेट भोपाल प्रथम संस्करण 2001

    3– बुन्देली लोक साहित्य परम्परा और इतिहास : सं0 कपिल तिवारी आदिवासी लोक कला परिषद भोपाल का प्रकाशन।

    4– बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास : प्रथम संस्करण 1985 प्रकाशन राधा कृष्ण प्रकाशन लि0 2/38 अंसारी रोड दरिया गंज नई दिल्ली।

कोश–ग्रन्थ

34. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज, वाल्यूम–5, मैकमिलन के न्यूयार्क सं0 1931।

35. हिन्दी साहित्य–कोष सं0 धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल प्रा0 लि0 वाराणसी सं0 2015।

36. 'स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ऑफ फोकलोर माइथालॉजी एण्ड लीजेण्ड' न्यूयार्क, 1950 (सं0 मेरियालीश)

पत्र–पत्रिकाएं

37. ओरछा गजेटियर

38. 'ईसुरी' पत्रिका : सं0 कान्तिकुमार जैन, बुन्देली पीठ, सागर वि0 वि0 सागर (म0प्र0) अंक 1 से 12तक।

40. 'चौमासा' : सं0 कपिल तिवारी, मध्यप्रदेश आदिवासी लोककला परिषद, भोपाल (म0प्र0)

41. 'छायानट' उत्तरप्रदेश संगीत नाटक आकदमी, लखनऊ।

42. जर्नल आफ अमेरिकन फोकलोर, सैम्यूयल पी0 बेयर्ड, वाल्यूम–66, 1953।

43. झांसी महोत्सव स्मारिका 1996 सम्पादक श्री सत्यनारायण श्रीवास्तव भावना प्रिण्टर्स एण्ड पबिल्सर्स झांसी।

44. 'मधुकर' : सं0 (श्री) बनारसी दास चतुर्वेदी कुण्डेश्वर, टीकमगढ़ (म0प्र0) 1940–44।

45. 'मामुलिया' : सं0 नर्मदा प्रसाद गुप्त, बुन्देलखण्ड साहित्य अकादमी, छतरपुर।

46. माधुरी : अभिनन्दन ग्रंथ श्री माहौर

47. 'लोकवार्ता : श्री कृष्णानन्द गुप्त लोकवार्ता परिषद टीकमगढ़, (मध्य भारत)

48. 'संगीत' (लोकसंगीत अंक) : सं0 लक्ष्मी नारायण गर्ग : संगीत कार्यालय हाथरस (उ0प्र0) जनवरी 1996, वर्ष 32, अंक1।

49. सम्मेलन–पत्रिका (लो0 सं0 वि0) : सं0 श्री राम नाथ सुमन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, शक 1917, सन 1965।

50. 'कल्याण' संस्कार–अंक (जनवरी 2006 ई0) सम्पादक– राधेश्याम खेमसा।

51. भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन — डा0 अरूण कुमार सेन
मुद्रक–धारा प्रेस 609
कटरा इलाहाबाद–211002

52. संगीत शास्त्र — डा0 वासुदेव शास्त्री
प्रकाशन शाखा सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

53. संगीत विशादर — बसन्त
संगीत कार्यालय, हाथरस

54. ताल शास्त्र — एम.जी. गोडवोले

55. ताप दीपिका — एम. जी. गोडवोले

56. ताल मीमांशा — वी. एस. सक्सेना

57. अभिनव ताल मंजरी — डा0 पी0 दधीची

58. ताल विज्ञान — एम. एल. जोशी

59. ताल मार्तण्ड — शान्ति गोवर्धन

60. तबला विज्ञान — डा0 लाल मणि मिश्र

61. लय वाद्य — प्रो0 पी0 साम्बामूर्ति